MINOR WORKS

OF

SHANKARACHARYA.

IN ORGINAL SANSKRIT.

PART II.

PAGES 273-584.

ASHTEKAR & CO. POONA.

Price of Both Parts–Rs. 4.

शतश्लोकी

देहलीपुत्रसिनानुचरहयवृषा स्तोषहेतो र्ममेत्थं,
सर्वे स्वायुर्नयन्ति प्रथितमलममी मांसमीमांसयेह ।
एते जीवन्ति येन व्यवहृतिपटवो, येन सौभाग्यभाजः,
तं प्राणाधीश मन्तर्गत ममृतममुं नैव मीमांसयन्ति ॥

रामावतार विद्याभास्कर

ओम्

शतश्लोकी

(श्रीशंकराचार्य)
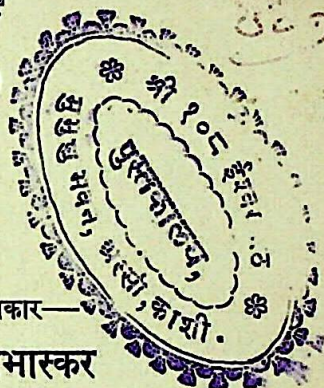
भाषान्तरकार तथा व्याख्याकार—

पं० रामावतार विद्याभास्कर

प्रकाशक—

पं० कृष्णकुमार शर्मा

पो. रतनगढ़, जि. बिजनौर

प्रथमवार] सम्वत् १९८९ [मूल्य ।=)

मुख्य पुस्तकविक्रेता—

विद्याभास्कर बुकडिपो,
चौक, बनारस

हिन्दी भवन,
अनारकली, लाहौर

मेहरचन्द लक्ष्मणदास,
सैद मिट्ठा बाज़ार, लाहौर

मुद्रक—देवचन्द्र विशारद, हिन्दी-भवन प्रेस, हॉस्पिटल रोड, लाहौर

ओम्

विनय

हे अच्युत ! हे अनन्त ! अपने बालकपन में—अपनी मुग्धावस्था के दिनों में—गणित के प्रश्नों का हासिल जब निकल आता था, तब बड़े चाव से अपने अध्यापक को उसे दिखाकर अपने को धन्य समझता था। परन्तु हे अच्युत ! हे अनन्त ! मुग्धावस्था के सुख के वे दिन फिर लौटकर नहीं आये। जब से होश सँभाला है तभी से देख रहा हूँ कि अब मेरे किसी भी काम का हासिल मेरे हाथ नहीं लग रहा है। मैं यों ही औरों को देख देखकर कुछ भी करता जा रहा हूँ। इतना ही नहीं, मैंने अनादिकाल से अब तक के सब कामों पर विहंगमदृष्टि डाल कर देखा है कि उन सबका भी कुछ हासिल मेरे पास नहीं है। मैं कोरा का कोरा ही हूँ। हे अच्युत ! हे अनन्त ! फिर अपने सच्चे अध्यापक आपके पास कौनसा हासिल लेकर उमंग के साथ दौड़ता आऊँ ? तुम्हें अपनी कमाई में से क्या दिखा दूँ ? हे अच्युत ! क्या मैं यों ही रपटाने वाली भूमि में दौड़ना चाहने वाले अन्धों की तरह निष्प्रयोजन ही यह सब—जो कुछ कि करता जा रहा हूँ करता ही चला जाऊँ और क्या यों ही बार बार विफलमनोरथ होता रहूँ ? क्या इन अनन्त कष्टों से कमायी हुई विषयाहुतियों को यों ही राख में मिलाता जाऊँ और विवेकशून्य कहलाऊँ ? इस प्राप्तिशून्य (बेहासिल) कार्य-जाल को कब तक फैलाता जाऊँ ? हे अच्युत ! अनन्त जन्मों से चली आने वाली इस अपनी दयनीय परिस्थिति से आज तो मैं काँप उठा हूँ। बाँझ आशाओं से, बाँझ कर्मों से और बाँझ ज्ञानों से मैं उकता गया हूँ। मैं अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाता पकाता ऊब गया हूँ।

अपने इन घिनौने देहों से, इन क्षुद्र संकल्प विकल्पों से, आशाओं के इन निरर्थक पसारों से, इस फलशून्य कार्यजाल को चालू रखने से और इन निस्तेज ज्ञानों से, मुझे बड़ी ही घृणा होगयी है। इसलिये पूरा पूरा अगतिक होकर, आप से एक विनय करता हूँ कि अब अनन्यशरण मुझको अपने अन्दर आने की अनुमति दे दीजिये। हे अच्युत ! हे अनन्त ! आपको न दीखने देने वाली—आप से मुझको अलग कर रखने वाली—जो 'मैं' की मैली ओढ़नी मैंने वृथा ही ओढ़ रक्खी है, कृपा करके अपने सांख्य-योग नाम के हाथ से, उसे मेरे ऊपर से उतार कर फाड़ डालिये और जो मैं अनादिकाल से एक नहीं, दो नहीं, ऊपर तले पाँच वेष्टनों में लिपटकर—सुकड़कर—घुटकर—दुःखों की मार से मुरझाकर—दुबककर—सबसे पीछे जा बैठा हूँ, व्यापक हो जाने पर जो एक ठण्डा साँस आया करता है, उसे अपने ही समान मुझे भी ले लेने दीजिये और बस...। ओम्

ओम्

प्राक्कथन

न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव ।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ।। वेद

जिस तत्त्व ने इस पसारे को फैलाया है, उसको तुम लोग नहीं पहचानते हो । क्योंकि उसमें और तुममें अब बहुत बड़ा अन्तर पड़ गया है । अज्ञानान्धकार से ढक जाने के कारण तुम लोग निरर्थक बातों में फँसकर केवल प्राणों की—केवल शरीर की—परिचर्या कर रहे हो और बकवादी होकर भटकते फिर रहे हो । यदि इस अज्ञान के परदे को हटा सको तो तुम्हारा उसका यह अन्तर हट सकता है । तुम दोनों फिर एक के एक हो सकते हो ।

यह आत्मा सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। परन्तु बीच में शरीर इन्द्रिय और मन के आ खड़ा होने के कारण, इन तीनों रूपों के स्थान में, इन तीनों रूपों को पाने की इच्छायें शेष रह गयी हैं। असली स्वरूप भुला डाला गया है ।

आत्मा परिणामशून्य सदा सत्य पदार्थ है । ये शरीर आदि तो परिणामविरस हैं ही । क्योंकि हम शरीरों को आत्मा समझ बैठे हैं इस कारण मिथ्या आत्मा समझ लिये हुए इन शरीरों को मरने देना—या नष्ट होने देना—अब हमको नहीं भाता । अपने भूले हुए नित्य आत्मा की तरह हम इन शरीरों को ही अमर रखना चाहते हैं । दुःख से—टूट फूट से—अछूता रखना चाहते हैं। जैसे प्रेमी की अनुपस्थिति में प्रेमी के स्मृतिचिह्न को ही प्रेमी की तरह प्यार किया जाता हो, यों आत्मा के सत्यस्वरूप के स्थान में शरीरों को—आत्मा समझ लिये हुए

शरीरों को—सत्य बनाये रखने की इच्छा रह गयी है। एक भूल से दूसरी भूल पैदा हो गयी है। गण्डमाला पर फोड़ा निकल आया है।

आत्मा व्यापक और अखण्डज्ञानरूप है। मन या बुद्धिवृत्तियों के उत्पन्न हो जाने के कारण हमारा ही व्यापक ज्ञानरूप, हमारी ही दृष्टि से ओझल हो गया है। समुद्र की लहर ने उठकर सारा ध्यान अपनी ओर खेंच लिया है। समुद्र को भुलवा दिया है। अब तो हम इन बुद्धि-वृत्तियों को ही अपना रूप मानकर, व्यापक ज्ञान को सकोड़ बैठे हैं। बार बार उत्पन्न होने वाली ये बुद्धिवृत्तियाँ, फिर फिर उस व्यापक ज्ञान का और हमारा ऐक्य कराना चाहती हैं। हम में और व्यापकज्ञान में सुलह कराना चाहती हैं। परन्तु बीच में इन्द्रियों के आ खड़ा होने से, बुद्धिवृत्तियों की, ज्ञान को एक कराने की, यह गूँगी मांग, हमारी मन्द समझ में नहीं आती और हम इन्द्रियों के दिखाये हुए पदार्थों को दिखाना ही उनका एकमात्र काम समझ बैठे हैं। 'इन्द्रियों को सर्वथा अलग रखकर केवल बुद्धि भी कोई काम कर सकती है' यह ध्यान हमें अब नहीं रह गया है। परन्तु इससे क्या ! बुद्धि की मूल इच्छा तो उस व्यापक ज्ञान के साथ अनन्यता (ऐक्य) करा देने की ही है। यों व्यापक ज्ञान की जगह व्यापकज्ञानरूप हो जाने की इच्छा रह गयी है।

इसी प्रकार आत्मा आनन्दस्वरूप है परन्तु विषयों की प्राप्ति के तुरन्त बाद अन्तर्मुख हो गये हुए मन में, स्वच्छ जल में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब की तरह, जो आत्मानन्द का आभास पड़ जाता है, कभी उत्पन्न और कभी नष्ट हो जाने वाले उस आभास को ही आनन्द समझ बैठने से, अब मुख्यानन्द को—निर्विषय आनन्द को—भूलकर उसकी जगह, उसकी इच्छा ही शेष रह गयी है। क्योंकि हमारा मन उस आनन्द को कभी ग्रहण करता है कभी नहीं, मन की इसी निर्बलता के

कारण आनन्द ही उत्पन्न और विनष्ट होनेवाला तत्त्व मालूम होने लग पड़ा है। जैसे कि आँख के छोटा होने से कभी सूरज को देखने और कभी न देखने के कारण, सूरज को ही छिपता उगता मान लिया गया हो।

जगत् को पसारने वाले तत्त्व में और हम में ये ही तीन बड़े अन्तर पड़ गये हैं। वह तो सच्चिदानन्दस्वरूप है, हम इस रूप को भूलकर सच्चिदानन्दस्वरूप की इच्छा वाले हो गये हैं। कस्तूरी मृग कस्तूरी की तलाश में भटक रहा है। हमारे इस अज्ञान की इच्छा बन गयी है। **त्रिपादस्यामृतं दिवि** वह तो अब भी अपने उसी सच्चिदानन्दरूप में समाधि लगाये बैठा है। उसकी सत्तामात्र से—चुम्बक की सत्तामात्र से लोहों में गति की तरह—यह सब कुछ होता जा रहा है। इस रूप को न पहचानने के कारण हम लोग **मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः** निरर्थक आशाओं और निरर्थक बखेड़ों में फँसकर दुश्चित्त हो बैठे हैं। इस दुश्चित्तता को हटाने के लिये—उस तत्त्व से हमें पृथक कर लेने वाली इस इच्छा पर शल्यक्रिया करने के लिये—उस सच्चिदानन्दस्वरूप को फिर प्राप्त कर लेने के लिये—कौन कौन उपाय करने चाहियें? इन उपायों को करते समय किस प्रकार के विचारों में रमते रहना चाहिये? इस मार्ग के विघ्नों को कैसे पार करना चाहिये? मन की पकड़ से कैसे छुटना चाहिये? अपनी असंगता को कैसे जगाना चाहिये? ईश्वरतत्त्व को ढक लेने वाले इस जगत् को ईश्वरतत्त्व से कैसे ढक डालना चाहिये? जीवन्मुक्ति कैसे प्राप्त करनी चाहिये? अविद्या कब मरती है? निरपेक्षपूर्णतत्त्व कौन है? कैसा है? उसको पाये बिना हमें शान्ति क्यों नहीं मिलेगी? निर्व्याज आनन्द कैसे आयगा? इत्यादि वेदान्त के गूढतम विषयों को ग्रन्थकार श्री आद्य शंकराचार्यजी ने इतने सरल ढंग से समझाया है कि यह विषय सबका जाना बूझा सा मालूम होने लग पड़ता है।

इस ग्रन्थ के संस्कृतटीकाकार आनन्दगिरि हैं। उनकी टीका से हमने बहुत बड़ी सहायता ली है। उपनिषदों के ही नहीं वेदों के भी अध्यात्मप्रकरण से इस में बहुत कुछ संग्रह किया गया है यह दिखाने का भी प्रयत्न किया है। अपनी ओर से ग्रन्थकार के भाव तक पहुँचने की—उनके साथ शामिल बाजा बजाने की—शक्तिभर कोशिश की है। इस ग्रन्थ का भाषान्तर करते हुए हमें यत्परो नास्ति आनन्द आया है।

मूलश्लोकों से अधिक जितनी व्याख्या की है वह सब कोष्ठकों में बन्द करदी है। जो केवल श्लोकार्थ ही देखना चाहें वे कोष्ठकों को छोड़कर पढ़ते जायँ।

इसके प्रूफ़-संशोधन में बन्धुवर रघुवीरजी शास्त्री तथा श्रीदेवचन्द्रजी विशारद ने जो सहायता दी है उनका अहसान हम पर है। एक दो कठिन प्रश्नों को समझने में महाविद्यालय ज्वालापुर के मुख्याध्यापक श्री पं० हरिदत्तजी ने जो सहायता की है वह भी भूलनेवाली वस्तु नहीं है।

लेखन-स्थान—
श्रद्धेय
श्री अच्युतमुनिजी का
चलता-फिरता आश्रम, गंगा-तीर.

निवेदक—
रामावतार

ओम्

शतश्लोकी

(तीनों भुवनों में सद्गुरु जैसी दूसरी वस्तु नहीं है)

दृष्टान्तो नैव दृष्ट स्त्रिभुवनजठरे सद्गुरो र्ज्ञानदातुः
स्पर्शश्चेत्तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम्।
न स्पर्शत्वं, तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपम स्तेन वाऽलौकिकोपि॥१॥

इस त्रिलोकी में ज्ञानदाता सद्गुरु का कोई भी दृष्टान्त देखा नहीं गया। यदि स्पर्शमणि (पारस पत्थर) को सद्गुरु का दृष्टान्त बताया जाय तो वह भी ठीक नहीं उतरता। वह स्पर्शमणि यद्यपि लोहे का स्वर्ण तो बना देती है परन्तु उसको अपने अपने समान स्पर्शमणि कदापि नहीं बना सकती। सद्गुरुओं की महिमा तो देखो! कि वे तो अपने चरणों की शरण में आये हुए शिष्यों को अपने समान ही करके छोड़ते हैं। यही कारण है कि (इन समस्त देवादि लोकों में तथा इनकी नानाविध विचित्र वस्तुओं में) सद्गुरु का एक भी उपमान नहीं है। वह सद्गुरु तो एक अलौकिक ही तत्व है। 'लौकिकोपि' इस दूसरे पाठ में अर्थ—अक्षरविद्या सिखाने वाले लौकिक गुरुओं का भी कोई उपमान नहीं हो सकता तो फिर सद्गुरु के निरुपम होने में सन्देह ही क्या है?

(आचार्य की महिमा)

यद्वच्छ्रीखण्डवृक्षप्रसृतपरिमलेनाभितो ऽन्येपि वृक्षाः
शश्वत्सौगन्ध्यभाजोऽप्यतनुतनुभृतां तापमुन्मीलयन्ति।

आचार्याल्लब्धबोधा अपि विधिवशतः सन्निधौ संस्थितानां
त्रेधा तापं च पापं सकरुणहृदयाः स्वोक्तिभिः क्षालयन्ति ॥२॥

जिस प्रकार श्रीखण्ड (मुख्यचन्दन) वृक्ष के फैले हुए सुगन्ध से चारों ओर के अन्य वृक्ष भी निरन्तर सुगन्धित हो जाते हैं और वे भी सब प्राणियों के ताप को नष्ट किया करते हैं इसी प्रकार जब ब्रह्मविद्या के आचार्य से बोध की प्राप्ति हो जाती है तो वे लोग अपने पास बैठने वाले लोगों के तीनों प्रकार (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) के तापों तथा तीनों प्रकार (कायिक वाचिक मानस) के पापों को (उनके अधिकार के अनुरूप उन्हें कर्म उपासना किंवा ज्ञान का) उपदेश देकर नष्ट कर देते हैं ।

(ब्रह्म की एकता का अनुभव जब होगा तो प्रपंच अपने आप ही मिथ्या भासने लगेगा)

आत्मानात्मप्रतीतिः प्रथममभिहिता सत्यमिथ्यात्वयोगाद्-
द्वेधा ब्रह्मप्रतीति र्निगमनिगदिता स्वानुभूत्योपपत्त्या ।
आद्या देहानुबन्धाद्भवति तदपरा सा च सर्वात्मकत्वा-
दादौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव उदिते खल्विदं ब्रह्म पश्चात् ॥३॥

क्योंकि (आत्मा के) सत्यभाव और (देहादि के) मिथ्याभाव का परस्पर योग हो गया है (आत्मा का तो संसर्गाध्यास हो गया है तथा अनात्मा स्वरूप से ही अध्यस्त हो गया है। अब तो ये परस्पर इतने हिल मिल गये हैं कि साधारण प्राणी को इनका भेद भी प्रतीत होना बन्द हो चुका है) इसलिये (नवीन साधकों को) सबसे प्रथम आत्मा और अनात्मा की प्रतीति (पहचान=विवेक) कर लेनी चाहिये (ऐसा जब वे कर चुकेंगे तभी वे ब्रह्मप्रतीति के सच्चे अधिकारी हो सकेंगे । जिन्हें आत्मा और अनात्मा का परिज्ञान ही नहीं है वे तो ब्रह्म को कदापि न जान सकेंगे। आत्मा और अनात्मा की प्रतीति कर चुकने के बाद तो ब्रह्मप्रतीति स्वय-

मेव होने लग पड़ती है) वेदान्तों में वर्णित वह ब्रह्मप्रतीति दो तरह से होती है—एक स्वानुभूति से दूसरी उपपत्ति (युक्ति) के सहारे से हो जाती है। स्वानुभूति से होने वाली पहली ब्रह्मप्रतीति में शरीर का(कुछ न कुछ) सम्बन्ध बना रहता है (जब तक शरीर में अध्यास बना हुआ है तभी तक ऐसी ब्रह्मप्रतीति नये-नये साधकों को हुआ करती है) उपपत्ति के सहारे से होने वाली दूसरी ब्रह्मप्रतीति तो तब होती है जब कि (साधक को) सर्वात्मकता का महालाभ हो जाता है। (साधन की प्रथमावस्था में) जब कि 'मैं ब्रह्मतत्त्व हूँ' ऐसा अनुभव (साधक के हृदय में) उदित हो चुकता है तो फिर उसके पश्चात् ऐसा दिव्य अनुभव होने लग पड़ता है कि यह सब ही कुछ ब्रह्मतत्त्व है (मैं ब्रह्म हूँ इस प्रतीति के प्रभाव से जब शरीराध्यास मिटता है तो फिर पीछे से उस साधक को 'मैं' कहने में भी भार लगता है। फिर तो उसे सदा यही ज्ञान होने लग पड़ता है कि यह सब ही ब्रह्म है। फिर वह व्यापक ब्रह्म से अपने को अलग करने का ब्रह्मद्रोह कभी नहीं करता। ये सब साधन की श्रेणियाँ हैं जो इस मार्ग के यात्री नहीं हैं यह सब उनकी समझ में नहीं आ सकेगा) इस ग्रन्थ में अन्त तक इन दोनों प्रकार की ब्रह्मप्रतीतियों का ही निरूपण किया गया है।

(अविवेकी लोगों को जब आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता तो वे भूल से इन अनित्य देहादि को ही आत्मा मान बैठते हैं यद्यपि उन्हें यह मालूम भी रहता है कि यह देह तो हाड मांस का पुतला है)

आत्मा चिद्वित्सुखात्माऽनुभवपरिचितः सर्वदेहादियन्ता
सत्येवं मूढबुद्धि र्भजति ननु जनोऽनित्यदेहात्मबुद्धिम् ।
बाह्यो ऽस्थिस्नायुमज्जापलरुधिरवसाचर्ममेदोयुगन्त-
र्विण्मूत्रश्लेष्मपूर्णं स्वपरवपुरहो संविदित्वापि भूयः ॥४॥

आत्मा सत्‌रूप ज्ञानरूप तथा आनन्दस्वरूप है केवल उपनिषद्वाक्य ही नहीं अनुभव (किंवा निरन्तराभ्यास) भी इस बात का अनुमोदन कर देता है। वही आत्मा इन सब देहादि (देह इन्द्रिय तथा प्राणों) को नियम में चला रहा है, यह सब कुछ होने पर भी इस संसार के बहिर्मुख पामर प्राणी (सकल जगत् के भासक उस आत्मदेव को भूल कर) इस अनित्य देह में ही आत्मबुद्धि कर बैठते (किंवा इस देह को ही आत्मा मान बैठते) हैं। देखो तो सही कि यह देह हड्डियों का एक ढांचा है, स्नायुओं से बाँधा जाकर खड़ा किया गया है, आवश्यकता के अनुसार मज्जा, मांस, रुधिर, वसा तथा मेद से इसका लेपन किया गया है, चमड़े से इसे मंढ दिया गया है, अन्दर (यदि इसे चीर फाड़कर देखो तो) विष्ठा, मूत्र तथा कफ से भरा हुवा पाओगे। अपने और पराये शरीरों को इस प्रकार जुगुप्सित देखते और जानते हुए भी ये मूर्ख लोग फिर फिर देहात्मबुद्धि कर ही बैठते हैं (हम नहीं समझते कि घृणित पदार्थों के समूह इस देह को आत्मा मान लेने का उन्हें क्या आधार मिल गया है ?)

(मूर्ख लोग उस जीवनाधार को भूलकर हा शोक ! कि मांसमीमांसा में ही फँसे रह जाते हैं)

देहस्त्रीपुत्रमित्रानुचरहयवृषास्तोषहेतो र्ममेत्थं,
सर्वे स्वायुर्नयन्ति प्रथितमलममी मांसमीमांसयेह ।
एते जीवन्ति येन व्यवहृतिपटवो येन सौभाग्यभाज-
स्तं प्राणाधीश मन्तर्गत ममृतममुं नैव मीमांसयन्ति ।।५।।

(संसार में यह कैसी अन्धपरम्परा चल पड़ी है कि संसार का कोई भी प्राणी परमार्थ का विचार तक नहीं करता) भ्रान्त लोग समझते हैं कि यह अपना देह तथा स्त्री पुत्र मित्र भृत्य घोड़े बैल आदि ही हमारे सुख के साधन हैं। अपने सन्तोष के लिये हमें इन्हीं का उपार्जन करते रहना

चाहिये। ऐसे ही भ्रामक विचारों में पड़कर ये सब प्राणी अपने इस प्रसिद्ध मनुष्य जीवन को मांसमीमांसा करते करते ही व्यतीत कर देते हैं। दिन रात इनके भरण पोषण तथा रक्षादि के दृढ मोह में फँसे हुए अपने जीवन को समाप्त कर लेते हैं। सुन्दर देह हो, घर में अच्छी भार्या हो, गुणी पुत्र प्राप्त हो जायँ, विनोदकुशल लोगों से मित्रता हो, अश्वशाला में द्रुतगामी घोड़े बँधे हों, थान पर भारवाही सुन्दर बैल सुशोभित हो रहे हों, उनकी दृष्टि में बस यही मनुष्यजीवन की कृतकृत्यता है। ऐसे पुरुष को देखकर लोग कहते हैं कि यह बड़ा भाग्यशाली मनुष्य है। परन्तु ये देह, स्त्री आदि सब के सब जिस आत्मा के सहारे से जीवन पा रहे हैं, जिसके अनुग्रह से चलने फिरनेरूपी व्यवहार में समर्थ हो रहे हैं, जिसकी कृपा से ही सौभाग्यशाली बने बैठे हैं, अन्दर रहने वाले उस प्राणाधीश अमृततत्त्व का विचार ये पामर प्राणी हाय! हाय! कभी भी नहीं करते।

(अपने बनाये घोंसलों के साथ पक्षियों की तरह यह जीव अपने कर्मों से बनाये हुए देह के साथ रहने का ही आदी हो जाता है)

कश्चित्कीटः कथंचि त्पटुमतिरभितः कण्टकानां कुटीरं,
कुर्वंस्तेनैव साकं व्यवहृतिविधये चेष्टते यावदायुः।
तद्वज्जीवोपि नानाचरितसमुदितैः कर्मभिःस्थूलदेहं,
निर्मायात्रैव तिष्ठन्ननुदिनममुना साकमभ्येति भूमौ ॥६॥

जैसे कोई बुद्धिमान कीड़ा (पक्षी) किसी युक्ति से कांटों किंवा तुनकों का एक कुटीर (पेड़ों पर लटकनेवाला घोंसला) बनाकर, अपने सम्पूर्ण जीवन भर उसी के साथ व्यवहार करता रहता है, वैसे ही यह जीव भी (संचित क्रियमाण आदि) अनेक प्रकार के चरित से उत्पन्न हुए प्रारब्धकर्मों की सहायता से इस स्थूलदेह को उत्पन्न करके (उसी में

अहंभाव से बैठ कर) प्रतिदिन उस देह के साथ ही इस पृथिवी पर विचरता रहता है।

(व्याघ्र आदि का वेष धारण करनेवाले नट जैसे व्याघ्र आदि नहीं हो जाते इसी प्रकार देह को धारण कर लेने पर भी यह जीव ब्रह्म ही रहता है)

स्वीकुर्वन् व्याघ्रवेशं स्वजठरभृतये भीषयन् यश्च मुग्धा-
न्मत्वा व्याघ्रोहमित्थं स नरपशुमुखान् बाधते किंनु सत्वान्।
मत्वा स्त्रीवेषधारी स्त्र्यहमिति कुरुते किं नटो भर्तुरिच्छां,
तद्वच्छारीर आत्मा पृथगनुभवतो देहतो यत्स साक्षी ॥७॥

(हमें इस देह के अनुरूप चेष्टायें नहीं करनी चाहियें। देखो!) तमाशा दिखाकर अपने पेट को पालने के लिये सिंह का वेष बनाकर बालकों को डराता हुआ भी मायावी क्या कभी 'मैं शेर हूँ' ऐसा मान कर मनुष्य और पशुओं को यथार्थ ही मारने लग पड़ता है (वह तो अपने व्याघ्रवेष को कृत्रिम समझकर चुपचाप रहता है और व्याघ्रवेष के अनुरूप हिंसादि करने पर कभी उतारू नहीं होता) इसी प्रकार स्त्री का वेष धारण करने वाला नट 'मैं स्त्री हूँ' यह समझकर क्या कभी भर्ता की इच्छा करने लगता है (वह स्त्रीवेष के अनुरूप हावभावों से अन्य पुरुषों को मुग्ध तो करता है परन्तु अपने को सच्ची स्त्री मान कर पति के संयोग की इच्छा कभी नहीं करता) अनुभव से सिद्ध होता है कि ठीक इसी प्रकार इस शरीर में रहनेवाला यह आत्मा भी इस देह से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि यह तो इस देह का साक्षी है (उसे तो सदा अपने स्वरूप में ही स्थित हुए रहना चाहिये)

(बालक को समझाने के लिए जैसे अनेक उपाय किये जाते हैं इसी तरह उपनिषदों ने अनेक रीतियों से आत्मतत्त्व को समझाया है)

स्वं बालं रोदमानं चिरतरसमयं शान्तिमानेतु मग्रे,
द्राक्षं खार्जूरमाम्रं सुकदलमथवा योजयत्यम्बिकास्य ।
तद्वच्चेतोऽतिमूढं बहुजननभवा न्मौढ्यसंस्कारयोगा-
द्बोधोपायै रनेकैरवश मुपनिषद्बोधयामास सम्यक् ॥८॥

चिरकाल तक रोते हुए अपने बालक को शान्त करने के लिये उसकी माता उसके सामने अंगूर, खजूर, आम या केला रख देती है । (वह समझती है कि इन में से किसी न किसी फल को पसन्द करके तो यह शान्त हो ही जायगा) इसी प्रकार माता के सदृश उपनिषदें अनेक जन्मों में उत्पन्न हुए मूर्खता के संस्कारों से अत्यन्त मूढ बने हुए (किंवा अज्ञान से दबे हुए) इस अवश अर्थात् चंचल चित्त को, बोध कराने वाले अनेक उपायों से समझाती हैं । (उनका अभिप्राय है कि आत्म-ज्ञान के बहुत से उपाय बता दिये जायं उनमें से अधिकार के अनुरूप किसी को कोई तो पसन्द आ ही जायगा । और वह उसी से कृतकृत्यता को प्राप्त कर लेगा)

(आत्मा ही प्रिय है दूसरे पदार्थ तो आत्मा के लिये होने से प्रिय हो जाते हैं वे सच्चे प्रिय नहीं हैं)

यत्प्रीत्या प्रीतिपात्रं तनुयुवतितनूजार्थमुख्यं स तस्मा-
त्प्रेयानात्माथ शोकास्पदमितरदतः प्रेय एतत्कथं स्यात् ।
भार्याद्यं जीवितार्थी वितरति च वपुः स्वात्मनः श्रेय इच्छं-
स्तस्मादात्मानमेव प्रियमधिकमुपासीत विद्वान्न चान्यत् ॥९॥

जिस आत्मा की प्रीति से ही अपना शरीर तथा स्त्री, पुत्र, धनैश्वर्यादि पदार्थ प्रीति के पात्र बन जाते हैं, वह आत्मा ही उन सबसे अधिक प्रिय होता है । (तात्पर्य यह है कि सुख दुःख के साक्षात्कार को ही भोग कहते हैं । वह भोग आत्मा को ही होता है । जो कोई पुरुष विषय का

भोग करने को प्रवृत्त होता है, वह यही तो चाहता है कि किसी प्रकार मैं प्रसन्न हो जाऊँ। मूलभूत उसी आत्मप्रीति के सहारे से और विषय भी प्रीति के पात्र बन जाते हैं। सबसे पहले हमें शरीर पर प्रेम होता है क्योंकि वह सब भोगों का एक मुख्य साधन है उसके द्वारा ही अन्य विषयों से हमारा सम्बन्ध जुड़ जाता है। फिर भोगों में सबसे अन्तरङ्ग स्त्रीशरीर होता है। उसके अनन्तर दोनों की प्रीति से उत्पन्न हुआ पुत्र भी प्रीति का पात्र हो जाता है, उसके पश्चात् इन तीनों की जीविका का उपयोगी द्रव्य भी प्रेम की वस्तु बन जाती है, फिर तो धन से साध्य, अन्न, पान, वस्त्र, ताम्बूल, अश्व इत्यादि भी प्रेमास्पद हो जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि मुख्य प्रीति तो आत्मा में ही है। दूसरों में जो प्रीति हो जाती है वह तो गौण है क्योंकि उनकी प्रीति आत्मप्रीति के आधीन होती है। यह सर्वसाधारण के नित्य के अनुभव की बात है। फिर मुख्यप्रीति वाला वह आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय क्यों न हो? यदि कोई कहे कि आत्मा के सर्वाधिक प्रिय होने पर भी गौण प्रीति के पात्र विषयों का उपार्जन भी हमें क्यों न कर लेना चाहिये तो उससे कहो कि) आत्मा से भिन्न सम्पूर्ण विषय तो शोक से साक्षात् घर ही होते हैं। फिर ये पदार्थ प्रिय कैसे हो सकेंगे? (क्योंकि उनसे आदि मध्य तथा अन्त में दुःख ही दुःख मिलता है। विचार कर देख लो! कि विषयों के उपार्जन में दुःख, उनकी रक्षा में भारी दुःख, तथा नाश हो जाने पर तो महा दुःख ही हो जाता है) फिर जब हम यह देखते हैं कि जब किसी की जान पर आ बनती है तो जीवन की इच्छावाला वह पुरुष अपने स्त्री पुत्रादि को भेंट देकर भी अपने आपको साफ़ बचा लेता है तथा किसी महादुःख से तंग होकर आत्मा का कल्याण चाहने वाला पुरुष, पहाड़ से कूदकर, गंगा में प्रवेश करके अथवा क्षात्रधर्म से बहादुरी के साथ अपने शरीर तक का बलिदान कर देता है, तो यह सब देखकर हमारे इस विचार को और भी पुष्टि मिल जाती है कि इस संसार

में आत्मा ही एक सर्वाधिक प्रिय पदार्थ है (शरीर आदि में तो आवश्यकता के अनुसार आपेक्षिक प्रियता रहा करती है) इससे विद्वान् को यही शिक्षा मिलती है कि आत्मा को ही सबसे अधिक प्रिय समझ कर उसी की उपासना किया करे। दूसरे किसी की भी उपासना न करे (विषयोपासना में अपने बहुमूल्य आत्मद्रव्य को कभी व्यय न होने दे।)

(संसार की प्यारी वस्तुयें सदा प्यारी नहीं रहतीं, सदा प्यारा तो यह आत्मा ही रहता है)

यस्माद्यावत्प्रियं स्यादिह हि विषयत स्तावदस्मिन् प्रियत्वं,
यावद्दुःखं च यस्माद्भवति खलु तत स्तावदेवाप्रियत्वम्।
नैकस्मिन् सर्वकालेऽस्त्युभयमपि कदाप्यप्रियोपि प्रियःस्या-
त्प्रेयानप्यप्रियो वा सततमपि यतः प्रेय आत्माख्यवस्तु ॥१०॥

जिस (भार्या आदि) विषय से इस लोक में जितना सुख मिलता है उस विषय में उसी परिमाण से उतनी ही प्रीति हो जाती है। तथा जिस (भार्या आदि) विषय से जितना दुःख मिलने लगता है उसमें उतना ही द्वेष हो जाता है। एक वस्तु में सब समय में दोनों (प्रियता तथा अप्रियता) बातें कभी नहीं रहतीं। (अपने प्रयोजन के अनुसार) कभी तो अप्रिय वस्तु प्रिय बन जाती है और कभी प्रिय भी अप्रिय हो जाती है। परन्तु यह आत्मवस्तु तो सदा प्रिय ही प्रिय रहती है।

बृहदारण्यक के मैत्रेयी ब्राह्मण में कहा गया है कि हे मैत्रेयी; पुत्रों के लिये पुत्रों से प्यार नहीं किया जाता। किन्तु अपने लिये ही हम उन्हें प्यार करते हैं। सब से प्रथम तो हमें अपना आत्मा ही प्रिय होता है। उसीके लिये हम पुत्रों को ढूँढते फिरते हैं। जो पुरुष गली में खड़ा होकर पुत्र के लिये केले किंवा सन्तरे खरीदना चाहता है, जिस प्रकार उसे केला किंवा सन्तरा प्रिय नहीं होता, किन्तु पुत्र ही प्रिय होता है, क्योंकि वह पुत्र के लिये ही तो केले और सन्तरे को चाहता है, इसी

प्रकार आत्मप्रीति ही मुख्य होती है, उसी के लिये पुत्रादि से प्रेम किया जाता है। कहने का भाव यही है कि अन्य सब विषयों को जब हम प्रेम करते हैं तो उस प्रीति का मुख्य आधार आत्मा ही होता है। उन विषयों पर तो गौणरूप से प्रीति हो जाती है। यों यह आत्मवस्तु पुत्र से भी प्यारी है, धन ऐश्वर्य से भी प्यारी है, विस्तार कहाँ तक करें, जिन जिन वस्तुओं से हम प्रेम करते हैं उन सभी वस्तुओं से यह आत्म-वस्तु प्यारी होती है। क्योंकि यह आत्मा पुत्रादि सभी पदार्थों से भी निकट अन्तरंग होता है। इससे आत्मा को ही प्रिय समझकर उपासना करे। जो विवेकी लोग आत्मा को ही प्रियरूप से उपासना करते हैं उन के प्रिय का नाश कभी नहीं होता। पुत्रादि मर सकते हैं, उनसे हमारा वियोग हो सकता है, परन्तु यह आत्मवस्तु मरने वाला पदार्थ नहीं है। यह हमसे कभी वियुक्त नहीं होता।

(कठोपनिषत् ने काम्य प्रेय और काम्य श्रेय की अपेक्षा ब्रह्म को ही आत्यन्तिक प्रेय और आत्यन्तिक श्रेय बताया है तत्त्वज्ञानी उसी में रम जाते हैं)

श्रेयः प्रेयश्च लोके द्विविधमभिहितं काम्य मात्यन्तिकं च,
काम्यं दुःखैकबीजं क्षणलवविरसं, तच्चिकीर्षन्ति मन्दाः।
ब्रह्मैवात्यन्तिकं यन्निरतिशयसुखस्यास्पदं संश्रयन्ते,
तत्त्वज्ञास्तच्च काठोपनिषदभिहितं षड्विधायां च वल्याम्॥११॥

लोक में श्रेय (कल्याणकारी) और प्रेय (प्रिय लगने वाला) दो दो प्रकार का कहा गया है। एक को काम्यश्रेय कहते हैं (जो कि किसी फल के विचार से किया जाता है) दूसरे को आत्यन्तिक श्रेय कहते हैं (जिससे मोक्ष की सिद्धि हो जाती है) इसी प्रकार प्रेय भी दो प्रकार का पाया जाता है। पहला काम्य प्रेम (स्त्री पुत्रादि पदार्थ हैं) दूसरा आत्यन्तिक प्रेय (तो यह आत्मा ही है)। काम्यश्रेय अथवा काम्यप्रेय ही समस्त

दुःखों के मूल कारण हैं। क्योंकि ये तो क्षणभर में फीके पड़ जानेवाले पदार्थ हैं, (पलक मारते मारते इनका रूप बदलता है) विश्वास के अयोग्य काम्यश्रेय तथा काम्यप्रेय की इच्छा केवल मूर्ख लोग ही किया करते हैं। आत्यन्तिक श्रेय अथवा आत्यन्तिक प्रेय तो सर्वाधिक सुख का निवासस्थान अपना आत्मा किंवा ब्रह्म ही है। तत्वज्ञानी लोग तो उसी का आश्रयण कर लेते हैं। उसी का प्रतिपादन ६ वल्ली वाली कठोपनिषद् में बड़ी सुन्दरता से किया गया है (विस्तार से जानना हो तो वहाँ देखना चाहिये)।

(अन्तर्निष्ठ वे लोग कहाते हैं जो जीवन की ऊँच नीच प्रत्येक चेष्टा में ब्रह्मात्मा की एकता का अनुभव करते रहते हों)

आत्माम्भोधेस्तरङ्गो ऽस्म्यहमिति गमने भावयन्नासनस्थः,
संवित्सूत्रानुविद्धो मणिरहमिति वासीन्द्रियार्थप्रतीतौ।
दृष्टो ऽस्म्यात्मावलोकादिति, शयनविधौ मग्न आनन्दसिन्धा-
वन्तर्निष्ठो मुमुक्षुः स खलु तनुभृतां यो नयत्येवमायुः ॥१२॥

यदि कहीं गमन करने का प्रसंग आ जाय तो जो यही सोचता हो कि मैं तो आत्मारूपी समुद्र में उठा हुआ एक तरङ्ग ही हूँ (तरङ्ग जिस प्रकार जल से पृथक् नहीं होता इसी प्रकार मैं भी अगाध आत्म-समुद्र से भिन्न नहीं हूँ) आसन पर बैठे हुए जो यही चिन्तन करता हो कि मैं तो ज्ञानरूपी महासूत्र में पिरोया हुआ एक जीवरूपी मणि ही हूँ, जब उसकी इन्द्रियें किसी पदार्थ को दिखायें तो जिसे तुरन्त यह धारणा हो जाती हो कि ओहो मुझे तो आत्मा का ही दर्शन हो रहा है और मैं उससे परम प्रसन्न हो रहा हूँ। सोने के विषय में जो यह सोचा करता हो कि ओहो मैं इतने समय तक आनन्द समुद्र में ही डूबा हुआ था। जो मुमुक्षु इस प्रकार अगाध अवस्था में डूबा रहकर ही अपने जीवन को व्यतीत किया करता है उसे ही तुम अन्तर्मुख समझो।

(ज्ञानी की यह विशेषता है कि वह संसार के सभी पदार्थों को विराट् शरीर के टुकड़े समझता है, ऐसे ज्ञान का यह प्रभाव है कि वह किसी को कर्ता या भोक्ता कहते हुए सकुचाता है)

वैराजव्यष्टिरूपं जगदखिलमिदं नामरूपात्मकं स्या-
दन्तःस्थप्राणमुख्या त्प्रचलति च पुनर्वेत्ति सर्वान् पदार्थान्।
नायं कर्ता न भोक्ता सवितृवदिति यो ज्ञानविज्ञानपूर्णः,
साक्षादित्थं विजानन् व्यवहरति परात्मानुसन्धानपूर्वम् ॥१३॥

नामरूपात्मक यह सम्पूर्ण जगत् विराट् का व्यष्टिरूप है, अन्दर रहनेवाला सब प्राणों में मुख्य जो चेतन है उसी के सहारे से यह सब देहादि चलता है, और उसीसे सब पदार्थों को जानता है। यह तो असल में सूर्य के समान न कर्ता ही है और न भोक्ता ही है। ऐसा ज्ञान और ऐसा ही अनुभव (साक्षात्कार) जिस पुरुष को प्राप्त होजाय वह तो फिर साक्षात् परमात्मा का अनुसन्धान करता हुआ ही व्यवहार किया करता है।

जब कोई पुरुष अपनी अन्तःकरण की वृत्ति को आत्माकार करना जान जाता है तो उसके पश्चात् जब कभी उसकी दृष्टि बाहर के पदार्थों पर पड़ती है तब वह इस नामरूपात्मक (समष्टिव्यष्टिरूप समस्त) जगत् की प्रत्येक वस्तु को विराट् की व्यष्टिरूप समझ लेता है। फिर किसी की निन्दा किसी की असूया तथा किसी से ईर्ष्या करने को उसका जी ही नहीं चाहता। वह समझ जाता है कि विराट् की एक व्यष्टि को दूसरी व्यष्टि की निन्दा करने का अधिकार ही क्या है? तथा इस निन्दा से प्रयोजन भी क्या सिद्ध होगा? उसकी समझ में यह तो एक ऐसी बात हो जाती है जैसे किसी का एक हाथ उसी के दूसरे हाथ की निन्दा करने लगा हो। वह यह भी समझ लेता है कि यह व्यष्टिरूप जगत् अन्तर्वासी प्राणों के भी प्राण चेतन के आधार से ही व्यापार कर रहा है तथा उसी ज्ञानरूप के सहारे से पदार्थों को जान रहा है, यों वह सदा ही आत्मा का विचार रखता है। वह यह कभी भी नहीं भूलता कि यह

आत्मा तो सूर्य के समान सबका साक्षी है। इस समस्त जगत् को अपने अपने कामों में लगाकर भी जिस प्रकार सूर्य को कर्तृत्व का अभिमान नहीं होता, संसार के सब पदार्थों को देखकर भी उनके भोक्तृत्व का वृथा विचार जैसे सूर्य को कभी नहीं आता, इसी प्रकार वह भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व के भ्रामक विचारों में कभी नहीं पड़ता। वह तो सूर्य के समान ही असङ्ग भाव से जीवनयात्रा किया करता है। इस संसार से पृथक् अपने अस्तित्व को स्थापित करने का ब्रह्मद्रोह वह कभी नहीं करता। उसे अपने को कर्ता किंवा भोक्ता कहते हुए कल्पान्तकाल सा आ जाता है। वह ऐसी दीनता को धारण करता है, वह अपने अस्तित्व को इतना मिटा देता है, मानो कोई वर्षा का जल ही दीन बनकर पृथिवी के गर्भ में छिप गया हो। यों धीरे धीरे अपने अहङ्कार को सूक्ष्म करते करते अन्त में ब्रह्म में लीन हो जाता है। ज्ञानी और अनुभवी पुरुषों की इस दिव्य अवस्था को भले प्रकार समझ लो और वायु के समान असङ्ग बनकर इस संसार में निर्द्वन्द्व होकर विचरण किया करो।

(वैराग्य और संन्यास दो दो प्रकार के हैं)

नैर्वेद्यं ज्ञानगर्भं द्विविधमभिहितं तत्र वैराग्यमाद्यं,
प्रायो दुःखावलोकाद्भवति गृहसुहृत्पुत्रवित्तैषणादेः।
अन्यज्ज्ञानोपदेशाद्यदुदितविषये वान्तवद्धेयता स्या-
त्प्रव्रज्यापि द्विधा स्यान्नियमितमनसां देहतो गेहतश्च॥१४॥

(ज्ञान के उपाय) वैराग्य को दो प्रकार का बताया जाता है। पहला नैर्वेद्य (दुःख से उत्पन्न होनेवाला) तथा दूसरा ज्ञानगर्भ वैराग्य कहाता है। उनमें से पहला वैराग्य प्रायः करके घर के दुःखों (मित्रों के विश्वासघातों तथा वियोगों, पुत्रों से किये हुए अपमानों तथा धनों के नाश) को देखने आदि से हो जाता है (उसके हो जाने पर आगामी में उन दुःखदायी पदार्थों को संग्रह करने का विचार फिर नहीं रहता तथा

संगृहीत पदार्थों को भी त्याग दिया जाता है) दूसरा ज्ञानगर्भ वैराग्य ज्ञान के उपदेश से होता है (ज्ञान का उपदेश अगले श्लोक में कहा है) क्षै किये हुए पदार्थ को जैसे कोई खाना नहीं चाहता। इसी प्रकार उपर्युक्त विषयों की विरसता को जानकर विवेकी लोग संसार के विषयों को हेय समझ लेते हैं। वे फिर उनकी इच्छा कभी नहीं करते। निरुद्ध मन वाले पुरुषों का संन्यास भी दो प्रकार का पाया जाता है। प्रथम तो वे घर को छोड़कर चले जाते हैं। उसके पश्चात् इस देह में से भी वे अपना अभिमान हटा लेते हैं। (फिर तो ऋतु आने पर जिस प्रकार वृक्ष फलते हैं, परन्तु उन्हें यह ज्ञान नहीं होता कि हम फल रहे हैं, इसी प्रकार उनके शरीर से जो कुछ क्रिया हो जाती है, उसका उन्हें ज्ञान नहीं होता कि हमारे द्वारा अमुक क्रिया हो गयी है। उनमें तो फिर शुद्ध साक्षि-भाव का उदय हो जाता है। यही मुक्तप्राप्य पवित्र अवस्था है ! इसी अवस्था का मार्ग दिखा कर वेदान्तों में कृतकृत्यता आ जाती है)।

(दुःख केवल उन्हीं के भाग में आता है जो देह को आत्मा मान बैठते हैं और देह को सुख देनेवाले पदार्थों को मेरा कहने लगते हैं)

यः कश्चित्सौख्यहेतो स्त्रिजगति यतते नैव दुःखस्य हेतो-
र्देहेऽहन्ता तदुत्था स्वविषयममता चेति दुःखास्पदे द्वे।
जानन् रोगाभिघाताद्यनुभवति यतो नित्यदेहात्मबुद्धि-
र्भार्यापुत्रार्थनाशे विपदमथ परामेति नारातिनाशे ॥१५॥

अब ज्ञानगर्भ वैराग्य के उपदेश की रीति बतायी जाती है—

इस त्रिलोकी में जो भी कोई पुरुष प्रयत्न करता है वह सब सुख के लिये ही करता है। दुःख के लिये यत्न करता हुआ इस संसार में कोई भी नहीं देखा जाता (फिर भी दुःखों से छुटकारा और सुख की प्राप्ति किसी को नहीं होती, उसका कारण सुनो) दुःख का निवास स्वभावतः दो स्थानों में रहता है प्रथम तो जो कि देह में अहन्ता कर ली जाती

है, दूसरे जो कि उस देह के लाभ के लिये अपने विषयों में ममता हो जाती है, उसे भी तुम दुःखों की एक चौपाल ही समझ लो। यह बात नहीं कि इस बात को लोग समझते ही न हों, इस बात को तो पतित से पतित आदमी भी समझते हैं कि यह देह आत्मा नहीं है (जभी तो वे कभी कभी कह देते हैं कि मेरा देह काला है अर्थात् मैं देह नहीं हूँ, मैं इस देह का स्वामी हूँ) परन्तु फिर भी ये मायामोहित प्राणी देहात्म-बुद्धि करके शरीर के रोगाभिघातादि पीडाओं को अनुभव किया करते हैं। इसी प्रकार वे लोग बढ़ते बढ़ते भार्यापुत्रादियों में ममता का अभिनि-वेश करके उनके दुःख, उनकी आपत्ति तथा उनके नाश से अपने को ही दुःखी विपद्ग्रस्त किंवा विनष्ट हुआ समझ लेते हैं। (परन्तु जहाँ अहन्ता और ममता नहीं रहती तो वहाँ दुःखी होना भी नहीं पड़ता। तुम इस बात को भी लोक में प्रत्यक्ष देख लो कि) जिसको हम शत्रु मानते हैं उस पर जब कोई विपत्ति आती है तो हमें किसी प्रकार का दुःख नहीं होता (जहाँ जहाँ धूम होगा वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य होगी इसी प्रकार जहाँ जहाँ अहन्ता और ममता होगी वहाँ से दुःखों की सेना को कौन टाल सकता है? तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण दुःखों का मूल कारण अहन्ता और ममता ही हैं। इन्हीं के कारण सुख के लिये प्राणान्त विपत्तियें उठाकर भी लोगों को दुःख ही दुःख भोगने पड़ते हैं।)

(घरों में रहनेवाले लोग अपनी मुक्ति का उपाय सुनें)

तिष्ठन् गेहे गृहेशोऽप्यतिथिरिव निजं धाम गन्तुं चिकीर्षु-
र्देहस्थं दुःखसौख्यं न भजति सहसा निर्ममत्वाभिमानः।
आयात्रायास्यतीदं जलदपटलव द्यातृ यास्यत्यवश्यं,
देहाद्यं सर्वमेवं प्रविदितविषयो यत्र तिष्ठत्ययत्नः ॥१६॥

जो लोग विवेकी तो हैं परन्तु किसी प्रारब्ध के कारण घर को नहीं छोड़ पाते अब उनके मोक्ष का उपाय बताया जाता है—

अपने गन्तव्यस्थान को जाने वाला अतिथि जिस प्रकार मार्ग में किसी स्थान पर ठहर जाता है । ('कल को तो यहाँ से जाना ही होगा' इस निश्चय के कारण वह उस स्थान में किसी प्रकार की ममता नहीं करता, उसकी टूटफूट के सुधारने में वह व्यस्त नहीं होता, वह तो असङ्ग-बुद्धि से ही उस स्थान में ठहरा रहता है) इसी प्रकार अपने आत्मधाम की ओर को चला हुआ वह विवेकी गृहस्थ, ममता के अभिमान को तिलाञ्जलि देकर घर का मालिक होकर भी उस अतिथि के समान ही देह के या घर के सुखदुःखों से बिना सुखी या दुःखी हुए और बिना कुछ किये धरे घर में पड़ा रहता है, वह समझ लेता है कि जिस प्रकार बादलों को लाने में हमें कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता तथा न वे हमारे प्रयत्न से हटते ही हैं (वे तो विधि की प्रेरणा से आते हैं, और उसी की प्रेरणा से इधर उधर हट जाते हैं) इसी प्रकार आने वाले सुख दुःख हानि लाभ तथा देहादि विधि की प्रेरणा से आयेंगे तथा जाने वाले स्वयमेव चले जायँगे, (हमारे लाख प्रयत्नों से भी इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना है) बस इन्हीं विचारों से वह निश्चिन्त और निर्यत्न होकर घर में बैठा रहता है ।

(संन्यास के दो भेदों का विवरण)

शक्त्या निर्मोकतः स्वाद्बहिरिव यः प्रव्रजन्स्वीयगेहा-
च्छायां मार्गद्रुमोत्थां पथिक इव मनाक् संश्रयेद्देहसंस्थाम् ।
क्षुत्पर्याप्तं तरुभ्यः पतितफलमयं प्रार्थयेद्भैक्षमन्नं,
स्वात्मारामं प्रवेष्टुं स खलु सुखमयं प्रव्रजेद्देहतोपि ॥१७॥

जिस प्रकार सांप अपने निर्मोक (कैंचुली) में से बड़े प्रयत्न से बाहर हो जाता है इसी प्रकार जो अपने घर को भी वैराग्य के बल से त्यागकर थोड़े समय तक इस देह में ही आस्था कर लेता है । मानो कोई पथिक किसी पेड़ की छाया में क्षण भर विश्राम ही ले रहा हो ।

वह फिर अपनी भूख को हटाने के लिये पक कर अथवा हवा से गिरे हुए थोड़े से फल फूल ही पेड़ों से मांग लेता है (अपने हाथ से फल तोड़ते हुए भी जिसे महापराध सा प्रतीत होने लगता है) यों धीरे धीरे सुख-स्वरूप स्वात्माराम में प्रवेश कर जाने के लिये इस देह को भी पीछे छोड़ कर आगे बढ़ जाता है (मानो कोई जूते उतारकर किसी राजदर्बार किंवा देवमन्दिर में ही घुस गया हो)।

(अध्यात्मयोग से काम क्रोध और लोभ का परित्याग करो क्योंकि इनसे पतन होता है)

कामो बुद्धावुदेति प्रथममिह मनस्युद्दिशत्यर्थजातं,
तद्गृह्णातीन्द्रियास्यै स्तदनधिगमतः क्रोध आविर्भवेच्च।
प्राप्तावर्थस्य संरक्षणमति रुदितो लोभ एतत् त्रयं स्या-
त्सर्वेषां पातहेतुस्तदिह मतिमता त्याज्यमध्यात्मयोगात्॥१८

काम (अभिलाषा) ही सबसे प्रथम बुद्धि में उत्पन्न हुआ करता है। उसके पश्चात् मन में (रूपरसादि) पदार्थों का संकल्प किया जाता है (कि इनमें से अमुक अमुक पदार्थ मुझको मिलने ही चाहियें) फिर तो उन पदार्थों को ग्रहण करने के लिये इन्द्रियरूपी मुख फैला दिये जाते हैं (यत्न करने पर भी किन्हीं विघ्नों के कारण) जब कोई भोग्य पदार्थ नहीं मिलते तो (विघ्नकर्ताओं पर) क्रोध उत्पन्न हो जाता है (जब हमारा काम किसी विघ्न से रुकता है तो उसी का क्रोध बन जाता है, अर्थात् जिसे हम अब तक काम समझते थे वही अब हमें क्रोध के रूप में दीखने लगता है) दैवयोग से यदि वह पदार्थ हमें प्राप्त भी हो जाय तो नाना उपायों से उसकी रक्षा के लिये जो वृथा विचार उत्पन्न होते हैं (कि ये पदार्थ अब हम से कभी भी वियुक्त न होने चाहियें इत्यादि) तो बस यही 'लोभ' कहाता है। इस प्रकार काम क्रोध तथा लोभ ये तीनों ही सब जीवों के (आत्मसौध से) अधःपतन के कारण हो जाते हैं

(अर्थात् इस दुःखरूप संसार में फँसने के मूल कारण ये ही तीन हैं) वुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि अध्यात्मयोग की सहायता से इन तीनों ही का त्याग करदे। (अर्थात् बुद्धि से परे जो एक आत्मतत्व निवास कर रहा है जिस की विस्मृति हो जाने पर ही ये काम क्रोध आदि उत्पन्न हो जाते हैं, जिसका ज्ञान हो जाने पर ये तीनों ही न जाने कहाँ छिप जाते हैं, उस आत्मतत्व के निरन्तर अनुसन्धान से इनको नष्ट कर डाले)।

(कल्माष साम में भी इन काम क्रोध आदियों को त्याज्य कहा है)

दानं ब्रह्मार्पणं यत्क्रियत इह नृभिः स्यात्क्षमाऽक्रोधसंज्ञा,
श्रद्धास्तिक्यं च सत्यं सदिति परमतः सेतुसंज्ञं चतुष्कम्।
तत्स्याद्बन्धाय जन्तोरिति चतुर इमान् दानपूर्वैश्चतुर्भि-
स्तीर्त्वा श्रेयोऽमृतं च श्रयत इह नरः स्वर्गतिं ज्योतिराप्तिम्॥१९

इस संसार में मनुष्य जिस वस्तु को ब्रह्मार्पण के उदारभाव से व्यय कर देता है वह 'दान' कहाता है। क्रोध का न होना 'क्षमा' कहाती है। आस्तिक्य (अर्थात् परलोक तथा ईश्वरादि में विश्वास) ही 'श्रद्धा' है। सद्रूप ब्रह्म ही 'सत्य' है (ये चारों तो मुक्ति के साधन हैं) इनके विरुद्ध अदान क्रोध अश्रद्धा तथा असत्य ये चारों ही सेतु अर्थात् प्राणियों के बन्धक कहाते हैं। ये अदान आदि चारों ही जीवों के बन्धन का कारण हुआ करते हैं। इस कारण दान आदि चार उपायों से इन पूर्वोक्त चार सेतुओं (बन्धनों) को त्याग कर संसारी पुरुषार्थी मनुष्य इस लोक में श्रेय (पुण्यविशेष) तथा अमृतभाव (देवभाव) को प्राप्त हो जाता है। मोक्षार्थी को इन्हीं से अर्ध्वगति तथा ज्योतीरूप ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

सामवेद का मन्त्र है कि—**हाउ सेतूँस्तर दुस्तरान् दानेनादानं हाउ अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य हाउ सेतूँस्तर दुस्तरान् अक्रोधेन क्रोधं हाउ पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभाइ सेतूँस्तर दुस्तरान् हाउ श्रद्धया अश्रद्धां हाउ यो मा ददाति स इदेव मावाः हाउ सेतूँस्तर**

दुस्तरान् सत्येनानृतं हाउ अहमन्नमहमन्न मदन्तमाद्मि हाउ वा एषा गतिः एतदमृतं स्वर्गच्छ ज्योतिर्गच्छ सेतूँस्तीर्त्वा चतुरः।

जिस प्रकार जल के प्रवाह को सेतु (बन्दा) रोक देता है इसी प्रकार इस संसार में जो एक ब्रह्मानन्दरूपी अखण्डैकरस की धारा बह रही है उसको रोकने वाले ये ही चार बड़े भारी बन्धन हैं, जो कि प्राणियों को ब्रह्मानन्द का अनुभव करने नहीं देते। इनको तोड़ने के ये ही उपर्युक्त चार उपाय हैं। इनके सिवाय अन्य कोई भी उपाय सफल नहीं होता। देखो, जो कुछ ब्रह्मार्पण के भाव से किसी को दिया जाय वही 'दान' कहाता है। अपना देह अपनी भार्या तथा अपने पुत्रादि के लिये जो कुछ व्यय किया जाय, उसी को 'अदान' कहते हैं। इस अदान को उल्लंघन करने की विधि यह है कि जो तुम अपने देहादि के लिये व्यय कर रहे हो, अपने अध्यात्मयोग से उसको ब्रह्मार्पण समझ कर ही व्यय किया करो। संसार नाम का जो यह एक बृहत् यज्ञ चल रहा है तुम भी उसके एक घटक बन जाओ। तुम अपने को उस यज्ञ का ही एक क्षुद्र साधन समझ लो। अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापित करना भूल जाओ। कृष्ण ने भी अर्जुन को कहा है कि—हे अर्जुन, तुम अपने लिये जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ भोग भोगते हो, जो हवन दान करते हो, जो तप करते हो, उसे मेरे अर्पण कर दो। अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व के वृथा अभिमान को एकपदे भूल जाओ। ऐसी भावना करते ही तुम्हारा सब लोभोपहत स्वार्थमय जीवन ब्रह्मार्पण हो जायगा। इसी प्रकार क्रोधरूपी दूसरे प्रतिबन्ध को क्षमारूपी उपाय से तोड़ दो और ब्रह्मानन्द के अखण्ड रस को निरन्तर बह लेने दो। क्रोध आने पर यह सोचो कि मैं तो इन मन तथा चक्षु आदि देवों से भी प्रथम रहने वाला अमृत ब्रह्म का नाभि हूँ अर्थात् बुद्धिरूप होकर मैं ही इस ब्रह्म को पार उतारा करता हूँ। क्रोध का प्रभाव बुद्धि तक ही परिमित रहता है मैं तो उस बुद्धि के भी परे रहनेवाला ब्रह्मतत्त्व हूँ 'यो बुद्धेः परतस्तु सः'

यों ब्रह्मत्वभावना से क्रोधरूपी प्रतिमल्ल को पछाड़ दिया करो और ब्रह्मानन्द को बेरोकटोक बहने दो। श्रद्धा की सहायता से अश्रद्धारूपी सेतु को तोड़ दिया करो। यह निश्चय कर लो कि—इस संसार में परमात्मा ही परमात्मा है उसके अतिरिक्त और कोई सत्य तत्त्व यहाँ नहीं है। वेद के द्वारा वह कहता है कि जो पुरुष मुझे देता है (सब कुछ मुझे अर्पण कर देता है) वही देवभाव को प्राप्त हो जाता है। यों आस्तिक्य के भाव से अश्रद्धा पर भी विजय प्राप्त कर लिया करो तथा सत्य ब्रह्म के अवष्टम्भ से इस प्रातिभासिक विश्वाकार को पार कर जाओ। यह ध्यान किया करो कि—अब तो मैं जीवरूप में अन्न को खा रहा हूँ। प्रलय होने पर तो सबको खानेवाले अग्नि आदियों को भी मैं खा डालता हूँ। यों जब प्रलयकाल में इस सकल जगत् का मुझमें ही होम हो जायगा तब जो शेष रहेगा वही तत्त्व मैं अब भी हूँ। फिर क्यों मैं इस प्रतिमासिक जगत् में फँसता फिरूँ? तथा क्यों अनन्त दुःखों को निमन्त्रण दे लूँ? बस यही मनुष्य के उद्धार की संक्षिप्त प्रक्रिया है। यही अमृतभाव कहाता है। इसी उपदेश को हृदय में धारण कर लेने से अच्छी गति मिलती है तथा ज्योतिःस्वरूप अमृत ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो जाती है) ॥१९॥

(देवों और अतिथियों की पूजा की आवश्यकता पर एक गम्भीर विचार)

अन्नं देवातिथिभ्योऽर्पित ममृतमिदं चान्यथा मोघमन्नं।
यश्चात्मार्थं विधत्ते तदिह निगदितं मृत्युरूपं हि तस्य।
लोकेऽसौ केवलाघो भवति तनुभृतां केवलादी च यःस्या-
त्त्यक्त्वा प्राणाग्निहोत्रं विधिवदनुदिनं योश्नुते सोपि मर्त्यः॥

(वैश्वदेव कर्म में) देवताओं को तथा आये हुए अतिथियों को जिस अन्न में से अर्पण किया जाता है वह सभी अमृत हो जाता है। यदि देवता और अतिथियों को अन्न न दिया जाय तो वह निष्फल हो जाता है। जो पुरुष केवल इस अपने मांसपिण्ड को पालने के लिये

ही अन्न पकाता है वह अन्न तो उसकी मौत कहाता है। (उसका परिणाम बड़ा ही विनाशक होता है। उसके अन्न का कोई भी साक्षी नहीं होता) शरीरधारियों में जो पुरुष अकेला खाने वाला है वह तो केवल पाप का ही भोक्ता है तथा जो मनुष्य प्राणाग्निहोत्र* के बिना भोजन करता है उसे तुम मर्त्य ही समझ लो। ऐसा मनुष्य जन्म मरण के चक्कर से कभी भी छुट्टी नहीं पाता।

वेद में कहा है—मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" संसार के अविचारशील लोग सारहीन अन्न को ही भोगते हैं। मैं सच कहता हूँ कि वह अन्न ही उनकी मौत है क्योंकि जिन देवताओं तथा अपने समाज के जिन लोगों की सहायता से उस बेसमझ ने इस अन्न (भोगों) का उपार्जन किया है, उनको तो वह कुछ

---

* प्राणाग्निहोत्र—जो भोजन प्रथम मिले आचमन करने के पश्चात् उस के छोटे छोटे पांच ग्रास बनाकर (१) प्राणाय स्वाहा (२) अपानाय स्वाहा (३) समानाय स्वाहा (४) उदानाय स्वाहा (५) व्यानाय स्वाहा इन पाँच मन्त्रों से अपने मुख में पाँच आहुतियां डालना ही 'प्राणाग्निहोत्र' कहाता है। जिसका तात्पर्य यह है कि प्राण आदि पांच उपाधिवाले ब्रह्म के लिये पांच ग्रास दिये जाते हैं। उससे पृथक् इस भोजन को भोगने वाला मैं कोई नहीं हूँ। इन प्राणादियों को तृप्त करना ही इस भोजन का प्रयोजन है। इन प्राणों की गति से जो खुश्की अथवा भूख प्यास इस शरीर में उत्पन्न हो जाती हैं उनकी निवृत्ति ही इस भोजन का उद्देश्य है। इस शरीरयात्रा को बनाये रखने के लिये मैं प्राणों के साक्षी ब्रह्म को ये ग्रास दे रहा हूँ। जब इस प्रकार ब्रह्मयज्ञ कर दिया जाय तो फिर जो अन्न शेष रह गया हो, उसे यज्ञशेष समझ कर शरीरयात्रा के लिये खाना चाहिये। अपने शुद्ध अनन्त आत्मा को भोक्ता समझने की भारी भूल कभी भी विवेकी को उत्पन्न न हो जाय, यही इस 'प्राणाग्निहोत्र' का अभिप्राय है।

लौटाता ही नहीं है। वह तो देवद्रोही और समाजद्रोही पुरुष है। वह इन देवताओं और अपने समाज के प्राणियों से कमा कमा कर चोर की तरह अकेला बैठकर खाता है। उसे चाहिये था कि यज्ञादि करके वृष्टि आदि करनेवाले इन्द्रादि देवताओं को प्रसन्न करता और दान देकर अपने उपजीव्य समाज को सहायता पहुँचाता जिससे वह समाज और वे देवता उसे फिर फिर सहायता पहुँचाने के योग्य बने रहते। हम सच कहते हैं कि केवल अपने पेट के लिये ही खर्च करने वाला प्राणी केवल पाप की गठरी ही अपने सिर पर लाद लेता है।

(अतिथिपूजक को अन्न का घाटा नहीं रहता, यह समाज परस्पर के आदान प्रदान से चलता है इसलिये कंजूस मत बनो)

लोके भोजः स एवार्पयति गृहगतायार्थिनेऽन्नं कृशाय।
यस्तस्मै पूर्णमन्नं भवति मखविधौ जायतेऽजातशत्रुः॥
सख्ये नान्नार्थिने योऽर्पयति न स सखा सेवमानाय नित्यं।
संसक्तायान्नमस्माद्विमुख इव परावृत्तिमिच्छेत् कदर्यात्॥

लोक में उसी को भोज कहते हैं जोकि घर में आये हुए दुर्बल रोगी किंवा अपाङ्ग याचक को अन्न का दान देता रहता है। लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के यज्ञों में ऐसे दानी को पूर्ण अन्न की प्राप्ति होजाती है (उसे अन्न का घाटा कभी नहीं पड़ता) ऐसा दानी अजातशत्रु हो जाता है। (अन्न का दान करने से उसके वैरी भी उससे मित्रता करने लगते हैं) परन्तु जो अभागा पुरुष अपने घर पर आये हुए, अन्न की इच्छावाले मित्र को (जो मानो स्वर्गति दिलाने के लिये साक्षात् स्वर्देवता ही आगया है) खाने को भोजन तक नहीं देता तथा नित्य सेवा करने वाले अपने आश्रित भृत्यों को अन्न नहीं खिलाता, उसको तुम सखा किंवा मित्र ही मत समझो (तुम यह समझ लो कि यह नरकगति को जानेवाला एक आत्मद्रोही प्राणी है। उसे अपनी उत्कृष्टगति की परवा ही नहीं

है । उसे इतना विश्वास ही नहीं है कि दानियों के दान का बीमा करने वाला कोई तत्त्व भी इस संसार में है। उसे यह ज्ञात ही नहीं है कि भगवान् ने बड़े ज़ोरों से इस बात की ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर उठा रक्खी है कि 'अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्' । 'अहं गर्भेषु दामि भोजनम्' । मैं दानियों को भोजन देता हूँ । और तो क्या मैं तो गर्भ में भी भोजन पहुँचाता हूँ) उसके इस अनुदारभाव को देखकर याचक लोग भी उस कंजूस के यहाँ से पराङ्मुख होकर लौट जाते हैं वे फिर उससे नहीं माँगते । (वेद में भी कहा है कि—

स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ।
न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात्प्रेयान्नतदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ।

भोज अर्थात् दानी वही है जो मांगने वाले को—विशेषतया अन्न मांगने वाले को जो कि अपने घर पर आकर मांगता है—जो ग़रीबी और कमज़ोरी या अंगहीनता के कारण मांगने लगा है, अन्न का दान देता रहता है । यामहूति अर्थात् यज्ञ में उस दानी को मनचाहा फल मिलता है । वह शत्रुओं की सेना में से भी मित्र बना लेता है । वह आदमी तो नेक आदमी नहीं है जो सदा आसपास बसनेवाले सदा सेवा करने वाले याचक को अन्न तक नहीं देता । उसके पास से उसको चला जाना चाहिये । जिस घर में से दीन मंगता लौटता है वह घर घर नहीं है वह तो शून्य जंगल है । उस मंगता को चाहिये कि वह किसी दूसरे दानी से मांगे) ॥२१॥

(अपने आपे को न जानो तो जगत् आ जाता है। अपने आपे को पहचान लो तो जगत् नहीं रहता। जगत् का अस्तित्व आत्मा को न पहचानने तक ही है, यों जगत् का उपादान आत्मा ही है)

स्वाज्ञानाज्ञानहेतू जगदुदयलयौ सर्वसाधारणौ स्तो-
जीवेष्वास्वर्णगर्भं श्रुतय इति जगुर्हूयते स्वप्रबोधे।
विश्वं ब्रह्मण्यबोधे जगति पुनरिदं हूयते ब्रह्म यद्व-
च्छुक्तौ रौप्यं च रौप्येऽधिकरणमथवा हूयतेऽन्योन्यमोहात् ॥

हिरण्यगर्भ से लेकर सभी जीवों में यह बात साधारण पायी जाती है कि आत्मा का अज्ञान हो जाने पर जगत् का प्रादुर्भाव हो जाता है तथा आत्मज्ञान होते ही इस जगत् का प्रलय हो जाता है। (वह हिरण्यगर्भ भी अपने स्वरूप को भूलकर 'मैं ईश्वर हूँ मैं नियामक हूँ' जब इस अभिमान में फँस जाता है तो उसे यह विश्वाभास दिखाई देने लगता है। परन्तु जब अपने अध्यात्मयोग से ब्रह्माकारवृत्ति करके वह अपने स्वरूप में लीन होता है तो इस विश्वाभास का अस्त हो जाता है) यह बात श्रुतियों में प्रतिपादित की गयी है। (जीवों के पिता हिरण्यगर्भ की) यह अवस्था जीवों में भी (दायभाग [विरासत] के रूप में) पायी जाती है। जब किसी को आत्मबोध होता (अथवा जब कोई ब्रह्माकारवृत्ति कर लेता) है तो इस सकल संसार का ब्रह्म में हवन हो जाता है (अग्नि में पड़ी हुई आहुति के समान ज्ञानाग्नि से इस जगत् का भस्मीभाव होजाता है) अबोधावस्था के आ जाने पर तो (जब कि देहाभिमान का प्रादुर्भाव होता है तथा 'मैं' और 'यह' नाम की दो वृत्तियें उत्पन्न हो जाती हैं, तो उस समय) वह ब्रह्म ही इस जगत् में हुत हो जाता है। अथवा यों समझ लो कि—वह ब्रह्म इस जगत् में छिप जाता है—वह रहता ही नहीं। क्या तुमने देखा नहीं है कि भ्रम के टूट जाने पर वह चांदी शुक्ति में कैसे समा जाती है ? तथा भ्रमकाल में वह शुक्तिरूपी अधिकरण चांदी में ही कैसे छिप बैठता है ? क्योंकि उस समय अन्योन्य के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान ही नहीं रहता ॥२२॥

(ज्ञान होने पर ही मालूम होता है कि ओहो आत्मा को ढकनेवाली तो कोई वस्तु ही यहाँ नहीं थी)

तुच्छत्वान्नासदासीद्गगनकुसुमवद्भेदकं नो सदासी-
त्किं त्वाभ्यामन्यदासीद्व्यवहृतिगतिसन्नास लोकस्तदानीम्।
किं त्वर्वागेव शुक्तौ रजतवदपरो नो विराड् व्योमपूर्वः,
शर्मण्यात्मन्यन्यथैतत् कुहकसलिलवत् किं भवेदावरीवः ॥२३

विचार तो यह है कि ऐन्द्रजालिक के मायानिर्मित क्षणिक जल की भाँति शुद्ध ब्रह्म को ढकनेवाला यह आवरण क्या था ? (किंवा इस जगत्प्रपंच को धड़कर खड़ा कर देने का कारण क्या था ? उस कारण को असत् किंवा सत् ही तो कहेंगे) वह जगत् का कारण (आकाश-पुष्प के समान सर्वथा) असत् तो नहीं था क्योंकि असत् तो तुच्छ को कहते हैं (अत्यन्त असत् पदार्थ में उपादान कारण बनने की योग्यता ही नहीं होती) उस कारण को भेदक (भेद बुद्धि का उत्पादक) सत् कहना भी ठीक नहीं (क्योंकि ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु सत् है ही नहीं फिर किसी दूसरे को भेदबुद्धि का उत्पन्न करने वाला क्यों कर माना जाय) इससे यही मानना होगा कि वह सत् और असत् से विलक्षण ही कुछ था। उस समय (सृष्टि से प्रथम) तो यह व्यावहारिक सत् लोक भी नहीं था, उस समय व्योम और विराट् भी नहीं थे। ये सब तो उसके पश्चात् ही शुक्ति में रजत की तरह उत्पन्न हुए हैं। (इन सब अनुपपत्तियों [कठिनाइयों] से यही निश्चय करना पड़ता है कि) ऐन्द्रजालिक के मायाजल की भाँति केवल अज्ञान रहने तक ही यह मिथ्या आवरण प्रतीत हुआ करता है। जब भ्रम हट जाता है तो पता चलता है कि भूमि को ढकनेवाला जल तो वहाँ था ही नहीं। ठीक इसी तरह शुद्ध ब्रह्म को ढकनेवाला आवरण तो कुछ था ही नहीं। परन्तु यह बात केवल ज्ञान हो जाने पर ही ज्ञात होती है।

(आंख के छोटेपन से सूर्य के दीखने और न दीखने पर दिन रात होते हैं। इसी प्रकार मायारूपी दोष से आत्मा का भान न होने पर जीवभाव की उत्पत्ति हो गई है)

बन्धो जन्मात्ययात्मा यदि न पुनरभूत्तर्हि मोक्षोपि नासी-
द्यद्वद्रात्रिर्दिनं वा न भवति तरणौ किंतु दृग्दोष एषः।
अप्राणं शुद्धमेकं समभवदथ तन्मायया कर्तृसंज्ञं,
तस्मादन्यच्च नासीत्परिवृतमजया जीवभूतं तदेव ॥२४॥

जब कि जन्ममृत्युरूपी वन्धन ही नहीं था तो यह स्वतःसिद्ध होजाता है कि मोक्ष भी कुछ नहीं था। जिस प्रकार सूर्य में दिन किंवा रात्रि कभी नहीं होती किन्तु यह तो (मनुष्य की) आंखों का दोष है (वे इतनी छोटी हैं कि प्रतिक्षण सूर्य को देख ही नहीं सकतीं। जब वे सूर्य को देखती हैं उस समय मनुष्य 'दिन' कहता है, जब वे सूर्य को नहीं देख सकतीं तब वह 'रात्रि' कहने लगता है। यों सूर्य का दर्शन और अदर्शन ही दिन रात का व्यवहार कराने लगता है। सूर्य में यदि कोई बैठा हो तो उसे मालूम हो कि सूर्य में तो दिन रात का प्रश्न ही कभी नहीं उठता) इसी प्रकार उस शुद्ध ब्रह्म में प्राण का सम्बन्ध कभी नहीं हुआ। वह एक अद्वितीय ही था। परन्तु मायारूपी दोष के कारण प्रथम तो वह कर्ता (अथवा हिरण्यगर्भ) वन गया। उस समय भी एक हिरण्यगर्भ ही था दूसरा कोई नहीं था। उसी पर जब माया का दूसरा वेष्टन चढ़ा और वह मायामोहित हुआ तो वही जीव बन गया। (यों यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म से भिन्न जीव नाम का यथार्थ पदार्थ कोई नहीं है। उदाहरण के लिये यह समझ लो कि जैसे सूर्य में वस्तुवृत्ति से दिन और रात नहीं होते। सूर्य के दर्शन और अदर्शन से ही जिस प्रकार दिन रात का व्यवहार होने लगता है इसी प्रकार ब्रह्म का अज्ञान हो

जाने पर जीवत्वरूपी भ्रम का अभ्युत्थान हो जाता है)। वेद में भी—

नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नभः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

(जगत् नहीं था परन्तु उत्पन्न हो गया। कैसे उत्पन्न हुआ सो सुनो !)

प्रागासीद्भावरूपं तम इति तमसा गूढमस्मादतर्क्यं
क्षीरान्तर्यद्वदम्भो जनिरिह जगतो नामरूपात्मकस्य।
कामाद्धातुः सिसृक्षोरनुगतजगतः कर्मभिः संप्रवृत्ता-
द्रेतोरूपैर्मनोभिः प्रथममनुगतैः संततैः कार्यमाणैः॥२५॥

इस जगत् से प्रथम इसका उपादान कारण भावरूप अज्ञान ही था। उसी में यह जगत् दूध में जल के समान छिप रहा था। इसी से यह अज्ञायमान और अतर्क्य अवस्था में पड़ा था। इस प्रवाहरूप से अनादि जगत् के, बीजभूत मनों के द्वारा, अनादि काल से निरन्तर कराये जाते हुए कर्मों के प्रताप से, जगदुत्पादक ब्रह्मा को, जब फिर जगदुत्पादन की इच्छा होती है, तो उसकी वह इच्छा और सृष्टि से पूर्व काल का वह अज्ञान—जिसमें कि यह जगत् छिप गया था—दोनों मिलकर इस नामरूपात्मक जगत् को उत्पन्न कर देते हैं। यही भाव वेद में यों आया है—

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्।
काम स्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो वन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥

(जगत् को भरमाने वाली माया की चार विशेषतायें)

चत्वारोऽस्याः कपर्दा युवतिरथ भवेन्नूतना नित्यमेषा-
माया वा पेशला स्यादघटनघटनापाटवं याति यस्मात्।

स्यादारम्भे घृतास्या श्रुतिभववयुनान्येवमाच्छादयन्ती
तस्यामेतौ सुपर्णाविव परपुरुषौ तिष्ठतोर्थप्रतीत्या ॥२६॥

इस माया में चार उत्कृष्टतायें पायी जाती हैं। प्रथम तो यह माया सदा युवती (हरी भरी नई नकोर बनी) रहती है, किसी के देहादि भले ही वृद्ध होजांय परन्तु यह सदा तरुणी ही रहती है। दूसरे यह पेशला अर्थात् बड़ी चतुर है क्योंकि यह अघटनघटना करने में बड़ी सिद्धहस्त है (विक्षेपों को उत्पन्न करना इसके बायें हाथ का खेल है।) तीसरे यह प्रारम्भ में घृत के सामान चिकनी चुपड़ी नरम और मनोहर दीख पड़ती है (यह प्रारम्भ में अपना मनोहर मुख दिखाकर अज्ञानी जीवों को अपने भयकारी परिणामों को भुगाती है) श्रुतियों से उत्पन्न हुए आत्मज्ञान को अपनी आवरणशक्ति से यह सदा ही ढके रहती है। चार विशेषताओंवाली उसी माया में परमात्मा तथा जीव ये दोनों ही, दो पक्षियों के समान रहते हैं। माया तो पदार्थों को ढकती रहती है, उसके विरुद्ध परमात्मा तथा जीव सकल पदार्थों का प्रकाश किया करते हैं (यों इस माया ने दोनों का काम वृथा ही बढ़ा रक्खा है) यही भाव वेद में यों आया है—

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुः यत्र देवा दधिरे भागधेयम्।

(जीवात्मा और परमात्मा एक ही वस्तु है)

एकस्तत्रास्त्यसङ्गस्तदनु तदपरोऽज्ञानसिन्धुं प्रविष्टो
विस्मृत्यात्मस्वरूपं स विविधजगदाकारमाभासमैक्षत्।
बुद्ध्यान्तर्यावदैक्षद्विसृजति तमजा सोपि तामेवमेक-
स्तावद्विप्रास्तमेकं कथमपि बहुधा कल्पयन्ति स्ववाग्भिः॥२७

उन दोनों पक्षियों में से एक (परमात्मा) तो सर्वथा असङ्ग है, परन्तु दूसरा बेचारा जीव अज्ञानसमुद्र में डूब रहा है। वह मूर्ख अपने यथार्थ स्वरूप को भूलकर इस जगदाभास को देखने लग पड़ा है। परन्तु ज्यों ही वह अपनी निश्चयात्मिका बुद्धि में विचार करता है त्यों ही वह माया उसे तुरन्त छोड़ देती है और वह जीव भी फिर उस माया से अपना नाता तोड़ देता है (तात्पर्य यह है कि जब कोई जीव अन्तर्दृष्टि हो कर विचार करता है तो माया और जीव का संयोग भंग हो जाता है और आत्मा को अपनी अखण्डता का साक्षात्कार हो जाता है।) श्रुति के जानने वाले ब्राह्मणों ने शिष्यबोध आदि व्यवहार चलाने के लिये इस एक ही आत्मतत्व में केवल वाणी से ही अनेकत्व मान लिया है। (इस अनेकत्व की कल्पना का आधार उनका वैसा अनुभव नहीं है।) यही भाव वेद में यों आया है—

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।

(परलोक की गति के विषय में आत्मा की परिस्थिति)

नायाति प्रत्यगात्मा प्रजननसमये नैव यात्यन्तकाले
यत्सोऽखण्डोस्ति, लैङ्गं मन इह विशति प्रव्रजत्यूर्ध्वमर्वाक्।
तत्कार्श्यं स्थूलतां वा न भजति वपुषः किन्तु संस्कारजाते
तेजोमात्रा गृहीत्वा व्रजति पुनरिहायाति तैस्तैः सहैव ॥२८॥

वह प्रत्यगात्मा गर्भ के अविर्भाव के समय गर्भ में प्रवेश नहीं कर जाता, तथा देहावसान के समय वहां से कहीं चला भी नहीं जाता। क्योंकि वह आत्मतत्व तो एक अखण्ड किंवा अपरिच्छिन्न (पूर्ण) पदार्थ है (जाना आना तो परिच्छिन्न एकदेशी पदार्थों में ही हुआ

करते हैं।) किन्तु पन्द्रह कला वाला लिङ्गदेह (मन) ही इस शरीर में प्रवेश करता और मरने के पश्चात् वही यहां से बाहर चला जाता है। वह (लिङ्गदेह) इस स्थूल देह की कृशता तथा पुष्टता को भी कभी प्राप्त नहीं होता। किन्तु इस शरीर से उत्क्रान्ति की अवस्था में पूर्व के संस्कारों, किंवा सूक्ष्मभूतों के साथ सूक्ष्म इन्द्रियों तथा प्राणों को भी लेकर यहां से जाता है, और उत्पत्ति के समय इनके साथ ही गर्भ में प्रवेश किया करता है। 'संस्कारजाते' के स्थान पर 'संस्कारजातैः' पाठ प्रतीत होता है।

(वेद की कथा से भी चलन आदि धर्म मनके प्रतीत होते हैं)

**आसीत्पूर्वं सुवन्धुर्भृशमवनिसुरो यः पुरोधाः सनाते-
र्ब्राह्मयात्कूटाभिचारात् स खलु मृतिमितस्तन्मनोगात् कृतान्तं
तद्भ्राता श्रौतमन्त्रैः पुनरनयदिति प्राह सूक्तेन वेद-
स्तस्मादात्माभियुक्तं व्रजति ननु मनः कर्हिचिन्नान्तरात्मा २८**

प्रवेश तथा निर्गम (आना तथा जाना) मन के ही हो सकते हैं, आत्मा के नहीं। इसके लिये ऋग्गाथा का उल्लेख किया जाता है— पहले कभी सनाति राजा का पुरोहित सुबन्धु नाम का ब्राह्मण एक बड़ा आदमी था। वह किसी ब्राह्मण के कपट अभिचार (गुप्त अस्त्र-प्रयोग) से मारा गया था। उसका मन यमलोक में पहुँच भी चुका था। उसके भ्राता ने श्रौत मन्त्रों की सहायता से उसके मन को फिर वापिस बुला लिया। इससे यही सिद्ध हुआ कि आत्मा के चिदाभास से युक्त मन ही कहीं जाता है। अन्तरात्मा तो कहीं भी और किसी तरह भी आता जाता नहीं है। (यह बात " यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकं, तत्ते आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे " वेद के इस मन्त्र से कही गयी है। जिसका तात्पर्य यही है कि

हे सुबन्धो ! जो तेरा मन सूर्य के पुत्र यम के पास दूर पहुँच गया है, उस तेरे मन को हम लोग जीने के लिये वापिस बुलाते हैं, कि अभी इस लोक में आकर और निवास करो)।

(यह आत्मा दौड़ने वाले मनके आगे पीछे तथा मध्य में सभी जगह निष्कम्पभाव से रहता है। चलनादि धर्म तो मन के हैं आत्मा के नहीं)

एको निष्कम्प आत्मा प्रचलति मनसा धावमानेन तस्मि-स्तिष्ठन्नग्रेऽथ पश्चान्नहि तमनुगतं जानते चक्षुराद्याः। यद्वत्पाथस्तरङ्गैः प्रचलति परितो धावमानै स्तदन्तः प्राक्पश्चादस्ति तेषां पवनसमुदितैस्तैः प्रशान्तैर्यथावत्॥३०॥

आत्मा यद्यपि एक निष्कम्प (कर्मशून्य) पदार्थ ही है परन्तु विषयों में दौड़ लगाते हुए मनके साथ (यह होड़ लगाकर खूब ही) दौड़ता है (इस विचित्र पहेली पर तो ध्यान दो कि) वह आत्मा इस दौड़ते हुए मन में भी रहता है, इसके आगे भी रहता है, इसके पीछे भी बना रहता है, ये भोली भाली चक्षुरादि इन्द्रियें इस अनुगत आत्म-तत्व को नहीं जान पातीं। उसकी स्थिति को स्पष्ट जानने के लिये तुम एक दृष्टान्त ही सुनलो—जिस प्रकार जल, हवा से उठे हुए, चारों ओर दौड़ने वाले, तरङ्गों के साथ भी दौड़ता है, उन तरङ्गों के अन्दर भी रहता है, उनके आगे (या पहले) भी रहता है, तथा उनके पीछे भी बना ही रहता है। (इसी प्रकार मायारूपी वायु के संयोग से उत्पन्न हुए मन आदि इन्द्रियों के साथ भी यह आत्मा खूब घुड़दौड़ लगाता है) जिस प्रकार तरङ्गों के शान्त हो जाने पर जल अपनी प्रकृति (स्वाभाविक अवस्था) में आ जाता है इसी प्रकार इन्द्रियों के शान्त हो जाने पर यह आत्मा भी अपनी स्वाभाविक अवस्था में पहुँच जाता है।

(बे समझ जीवों के प्रपंचक्रीडा में उलझने का क्रम)

एकाक्यासीत् स पूर्वं मृगयति विषयानानुपूर्व्यान्तरात्मा
जाया मे स्यात् प्रजा वा धनमुपकरणं कर्म कुर्वंस्तदर्थम् ।
क्लेशैः प्राणावशेषैर्महदपि मनुते नान्यदस्माद्वरीय-
स्त्वेकालाभेऽप्यकृत्स्नो मृत इव विरमत्येकहान्याऽकृतार्थः ॥३१

वह अन्तरात्मा पहले (ब्रह्मचर्यकाल में) तो अकेला ही था, वह फिर धीरे धीरे विषयों को ढूंढने लगा। ढूंढते ढूंढते उसने अपना जी लगाने के लिये स्त्री को पसन्द किया (कि मुझे तो एक जीवनसङ्गिनी मिलनी ही चाहिये) कुछ दिन गृहस्थ का आनन्द भोगने के पश्चात् (गोद में खिलाने तथा वृद्धावस्था में सेवा करने के लिये) उसे पुत्र की इच्छा उत्पन्न हुई। (सब के निर्वाह के लिये) धन की आवश्यकता भी पड़ी, बस बहुत सी सुखसामग्री उसने बटोर ली। उस अज्ञानी गृहस्थ पर अब दिनरात यही धुन सवार रहने लगी कि किसी प्रकार खर्च के लिये धन कमाया जाय। उसका यह मोह यहां तक बढ़ा कि प्राणान्त विपत्तियें उठा उठा कर भी वह धनोपार्जन के लिये बड़े बड़े महोद्योग करने लगा। अब वह इसके सिवाय अन्य किसी वस्तु को अच्छा नहीं समझता। जब कभी उसे धनादि विषय प्राप्त हो जाते हैं तब वह फूला नहीं समाता। वह समझता है कि इससे बड़ी धन्यता और संसार में है ही क्या! परन्तु जब उसे बहुत से अभिलषित विषयों में से कोई भी एक विषय प्राप्त नहीं होता तो वह अपने आप को अधूरा समझ कर मुरदे के समान ही निरुत्साह और दीन होने लगता है। जब कभी उसके उपार्जित विषयों में से किसी एकाध विषय की हानि हो जाती है तो भी वह अपने को अकृतार्थ ही मानने लगता है। (यों अपने अज्ञान के कारण ही इस पूर्ण आत्मतत्व को

अज्ञानी प्राणियों ने अधूरा बना रक्खा है। ज्ञानी लोग तो उस आत्मतत्व को सदा सम्पूर्ण तथा कृतार्थ मान कर इस प्रपंच में कभी नहीं फंसते)।

(अविद्या की आवरणशक्ति को समझने की रीति)

नासीत्पूर्वं न पश्चादतनुदिनकराच्छादको वारिवाहो दृश्यः किन्त्वन्तरासौ स्थगयति स दृशं पश्यतो नार्कबिम्बं नो चेदेवं विनार्कं जलधरपटलं भासते तर्हि कस्मा-त्तद्वद्विश्वं पिधत्ते दृशमथ न परं भासकं चालकं स्वम् ॥२२॥

जो छोटा सा मेघ त्रिलोकी के प्रकाशक बड़े भारी सूर्य को भी आच्छादित कर लेता है यह मेघ (वर्षाकाल से) पहले भी नहीं था, पीछे (शरत्काल में) भी न रहेगा, यह मेघ तो (कुछ काल के लिये) मध्य में ही दीखने लगा है। यह मेघ देखने वाले पुरुष के नेत्रों को ही तो ढकता है, सूर्यमण्डल को ढकने का सामर्थ्य इस क्षुद्र मेघ में नहीं है। (क्योंकि मेघों के चारों ओर उसकी किरणें फैली ही हुई हैं। फिर भी सूर्य को जो कि प्रभाहीन हुआ बताया जाता है वह ठीक नहीं है) यदि सूर्य ही वास्तव में ढक दिया गया हो तो बताओ कि सूर्य के विना, वह सूर्य को ढक देने वाला मेघ, किस के सहारे से दीख रहा है ? (क्योंकि वह सूर्य तो तुम्हारे मतानुसार बादल से ढका जा चुका है। इससे कहते हैं कि सूर्य को देखने वाले मनुष्य की दृष्टि को ही बादलों ने ढक दिया है) ठीक इसी प्रकार यह मध्यकाल में उत्पन्न हुआ जगत् द्रष्टा जीव की बुद्धिरूपी दृष्टि को ही ढक देता है। उस परब्रह्म के स्वरूप को ढक देने का सामर्थ्य इस तुच्छ जगत् में नहीं है। जो कि परब्रह्म इसका प्रकाश करने वाला है, व्यवहार के रूप में जो कि इसे चला

रहा है, ऐसे उस अपने प्रकाशक महामहिम परब्रह्म को यह तुच्छ माया ढक ही कैसे सकती है ? (ब्रह्म के ढक दिये जाने पर तो इसका प्रकाश तथा इसका व्यवहार दोनों ही सहसा रुक जायंगे। इससे यही सिद्ध होता है कि इस जगद्भास के आदि मध्य तथा अन्त में वर्तमान ब्रह्म ही सत्य पदार्थ है। उसके अज्ञान से उत्पन्न हुआ यह जगद्भास रज्जुसर्प के समान मिथ्या ही है)।

जगत् के मिथ्यापन को केवल वाणी से रटने वाले तोतों की बात हम नहीं कहते, यदि कोई भाग्यशाली सचमुच ही सोते हुए पुरुष की तरह जगद्व्यवहार को भूले तो उसकी दृष्टि में यह प्रपंच मिथ्या हो जाता है।

भुञ्जानः स्वप्नराज्यं ससकलविभवो जागरं प्राप्य भूयो
राज्यभ्रष्टोहमित्थं न भजति विषमं तन्मृषा मन्यमानः।
स्वप्ने कुर्वन्नगम्यागमनमुखमघं तेन न प्रत्यवायी
तद्वज्जाग्रद्दशायां व्यवहृतिमखिलां स्वप्नवद्विस्मरेच्चेत् ॥३३॥

कोई पुरुष सुपने में राजा बनकर सम्पूर्ण वैभव के साथ स्वप्न के राज्य को भोगता हुआ, जाग कर 'हाय मैं तो राज्य से भ्रष्ट हो गया' ऐसा झूठा शोक कभी नहीं करता। क्योंकि वह समझता है कि वह राज्य तो मिथ्या था। इसी प्रकार स्वप्न में अगम्या स्त्री से गमन किंवा मद्यपान या ब्रह्मवध आदि अनेक पापों को करता हुआ भी जागते ही उस पाप से पापी नहीं हो जाता (उसकी स्वप्नवार्ता सुनने वाले लोग उससे पातकियों का सा व्यवहार भी नहीं करते—उसके साथ यथापूर्व खानपान आदि व्यवहार किया ही करते हैं। इन पापों से उसके अपने मन में भी किसी प्रकार का अनुताप नहीं होता) क्योंकि वह समझता

है कि वह सब तो झूठ ही था। यदि कोई महाभाग्यशाली प्राणी (जडभरत, शुक, मङ्कि तथा संवर्तक ऋषि के समान) इस जाग्रत् काल के रहते ही रहते पाप पुण्य के इस सम्पूर्ण व्यवहार को सुपने की तरह भूल जाय (किंवा आत्मनिद्रा के प्रभाव से एकदम अन्धा हो गया हो) तो फिर उस पर भी प्रायश्चित्तशास्त्र का शासन नहीं चलता (क्योंकि वह भी इन सब को मिथ्या ही समझ लेता है, मिथ्या समझने से जैसे वे लोग पाप से छुट जाते हैं इसी प्रकार मिथ्या समझने से उसका भी इस संसार से छुटकारा हो जाता है)।

(जागरण और स्वप्न अवस्थाओं की ठगई में मत आओ)

स्वप्नावस्थानुभूतं शुभमथ विषमं तन्मृषा जागरे स्या-
ज्जाग्रत्यां स्थूलदेहव्यवहृतिविषयं तन्मृषा स्वापकाले।
इत्थं मिथ्यात्वसिद्धावनिशमुभयथा सज्जते तत्र मूढः
सत्ये तद्भासकेऽस्मिन्निह हि कुत इदं तन्न विद्मो वयं हि॥३४

स्वप्नकाल में जिस शुभ (राज्यभोग तथा इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति) को हम देखते हैं, अथवा जिस अशुभ (अपने को व्याघ्र से खाते हुए) को देख लेते हैं, जागरणकाल आ जाने पर ये सब सुखदुःखदायक घटनायें असत्य हो जाती हैं। इसी प्रकार जाग्रद्दशा में इस स्थूल शरीर से जो हम नाना प्रकार के स्वादु मिष्टान्न खाते हैं या और कुछ भोग भोगते हैं अथवा आधिव्याधि की कठोर यन्त्रणायें सहते हैं, स्वप्नावस्था आते ही वे सब भी मिथ्या (बाधित) हो जाते हैं। यों हम तो दिनरात यही देखते हैं कि जागरण अवस्था स्वप्न अवस्था को मिथ्या सिद्ध कर रही है, तथा स्वप्न अवस्था जागरण अवस्था को मिथ्या बता रही है। फिर भी संसार के पामर प्राणी उसी में अपने प्रेम का आग्रह रखते हैं।

उसी को सब कुछ समझते हैं। इसका कारण ही हमारी समझ में आज तक नहीं आया। ये मूर्ख लोग इन दोनों अवस्थाओं के प्रकाशक अपने इस आत्मा में क्यों आसक्त नहीं हो जाते, यह बात हम अभी तक नहीं समझ पाये हैं।

(जाग्रत् का अनुभव भी सदा सत्य नहीं रहता)

जीवन्तं जाग्रतीह स्वजनमथ मृतं स्वप्नकाले निरीक्ष्य
निर्वेदं यात्यकस्मान्मृतममृतममुं वीक्ष्य हर्षं प्रयाति।
स्मृत्वाप्येतस्य जन्तोर्निधनमसुयुतिं भाषते तेन साकं
सत्येवं भाति भूयोऽल्पकसमयवशात्सत्यता वा मृषात्वम्॥३५॥

जब हम जागते समय अपने सम्बन्धी किसी जीवित मनुष्य को स्वप्न में मरा हुआ देखते हैं तो हमें अकस्मात् बड़ा दुःख होता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि जाग्रत् में मरे हुए किसी अपने सम्बन्धी को सुपने में जीता देख कर हमें परम हर्ष हो जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि जाग्रत् काल का अनुभव भी स्वप्नकाल में मिथ्या हो जाता है। स्वप्न देखने वाला पुरुष इस पुरुष के मरण और जीवन का स्मरण करता हुआ भी, उसके साथ बात चीत करता है, उसके साथ दीनालाप भी किया करता है। ऐसी समान अवस्था में भी जब कि लोग स्वप्न को तो मिथ्या और जाग्रत् को सत्य समझते हैं तो उसका कारण केवल यह है कि जाग्रत् काल का अनुभव अधिक काल तक ठहरता है, इससे उसे सत्य मान लेते हैं, तथा स्वप्नकाल का अनुभव स्वल्पकाल तक रहता है, इससे उसे मिथ्या समझ लेते हैं।

चिरकाल तक रहने के कारण जाग्रत् काल का अनुभव दृढ हो जाता है इसी से वह सत्य प्रतीत हुआ करता है। स्वप्नकाल का अनु-

भव क्षणस्थायी होने से दृढ नहीं हो पाता इसी से मिथ्या प्रतीत हुआ करता है। केवल इतनी ही विशेषता इन दोनों अनुभवों में पायी जाती है। विचारदृष्टि से देखने पर तो ये दोनों ही मिथ्या हैं क्योंकि कालान्तर में इन दोनों का ही बाध हो जाता है।

(यह जगत् असत् से बना है पर सत्य के समान हो गया है)

स्वाप्नस्त्रीसंगसौख्यादपि भृशमसतो या च रेतश्च्युतिः स्या-
त्साक्ष्यात्तद्वदेतत्स्फुरति जगदसत्कारणं सत्यकल्पम् ।
स्वप्ने सत्यः पुमान् स्याद्युवतिरिह मृषैवानयोः संयुतिश्च
प्रातः शुक्रेण वस्त्रोपहतिरिति यतः कल्पनामूलमेतत् ॥३६॥

सर्वथा अविद्यमान भी स्वाप्नस्त्री के संभोगसुख से जब कि वीर्यपात हो जाता है तब वह वीर्यपात 'व्यावहारिक सत्य' कहाने लगता है। इसी प्रकार यह जगत् भी सत्य सा प्रतीत तो होता है परन्तु असल में यह (सत् से विलक्षण अविद्यानामक) असत् कारण से उत्पन्न हो गया है। (क्योंकि यह जगत् सुषुप्ति अवस्था के आने पर नहीं रहता।) देखो, स्वप्न में पुरुष तो सत्य होता है, युवती मिथ्या होती है, तथा इन दोनों का मैथुन भी मिथ्या ही होता है। परन्तु फिर भी प्रातःकाल होने पर वस्त्र में वीर्य का धब्बा सत्य ही देखा जाता है। इसी प्रकार आत्मा सत्य है, मायारूपी स्त्री असत्य है, उन दोनों का सम्बन्ध भी आध्यासिक होने से मिथ्या है, परन्तु इस आत्मा तथा माया के असत्य संयोग से उत्पन्न हो जाने वाला यह जगत् व्यवहार में सत्य सा प्रतीत होने लग पड़ा है। क्योंकि इस सब का आधार केवल कल्पना ही तो है।

(जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में आत्मा की करामातों को तो सब देखते हैं, पर आश्चर्य है कि उस करामाती की ओर को किसी का भी ध्यान नहीं जाता)

पश्यन्त्यारामभस्य प्रतिदिवसममी जन्तवः स्वापकाले
पश्यत्येनं न कश्चित् करणगणमृते मायया क्रीडमानम्
जाग्रत्यर्थव्रजानामथ च तनुभृतां भासकं चालकं वा
नो जानीते सुषुप्तौ परमसुखमयं कश्चिदाश्चर्यमेतत् ॥३७॥

स्वप्नावस्था के आने पर जब कि यह आत्मतत्व बाह्येन्द्रियों की सहायता के विना, केवल माया से ही स्वाप्नदेह तथा स्वाप्न इन्द्रियें बनाकर क्रीडा (विहार) किया करता है, तब प्रत्येक जीव प्रतिदिन इस की क्रीडा को तो देखते हैं, परन्तु शोक ! कि इस क्रीडा करनेवाले को कोई नहीं देख पाता । अथवा जब कि यह जाग्रत् काल में ही सकल शरीरधारियों को चलाता रहता है और संसार के पदार्थों को प्रकाशित किया करता है, अथवा सुषुप्तिकाल के आ जाने पर जब यह परमसुखमय ही हो जाता है, तब भी इस परमात्मा की इन क्रीडाओं को तो प्रत्येक मायामोहित प्राणी देखता है, परन्तु उनके दुर्भाग्य से किसी का भी ध्यान इस सकलचालक आत्मतत्व की ओर को नहीं जाता, यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है ! (जाग्रत् स्वप्न किंवा सुषुप्ति नामक नाटक के सूत्रधार इस चतुर्थ आत्मतत्व को कोई क्यों नहीं पूछता, हम को यही एक बड़ा अचम्भा हो रहा है) ।

(जब सभी कुछ असत्य है तो उपनिषदों से उत्पन्न हुए ब्रह्मज्ञान के सत्य होने का कारण सुनिये)

स्वप्ने मन्त्रोपदेशः श्रवणपरिचितः सत्य एष प्रबोधे
स्वाप्नादेव प्रसादादभिलषितफलं सत्यतां प्रातरेति ।

सत्यप्राप्तिस्त्वसत्यादपि भवति तथा किंच तत्स्वप्रकाशं
येनेदं भाति सर्वं चरमचरमथोच्चावचं दृश्यजातम् ॥३८॥

स्वप्नकालमें कानों से सुना हुआ वह मन्त्रोपदेश जागरण में भी सत्य ही होता है। स्वप्नकाल के किसी शुभदर्शन से प्रातःकाल अपने अभि-लषित फल सत्य होते हुए देखे जाते हैं। इससे यही निश्चय होता है कि सत्य की प्राप्ति असत्य पदार्थों से भी हो जाया करती है (ऐसी अवस्था में यह शंका किसी को न करनी चाहिये कि 'जब कि स्वप्न के दृष्टान्त से जाग्रत् अवस्था भी मिथ्या हो गयी तो जाग्रत् काल में गुरु-मुख से अथवा अध्यात्मशास्त्र का मनन करने से प्राप्त हुआ ब्रह्मबोध भी मिथ्या ही होगा और फिर ब्रह्म भी वन्ध्यापुत्र के समान मिथ्या ही कहाने लगेगा' क्योंकि असत्यसे भी सत्य की प्राप्ति को इस लोकमें बहुधा देख रहे हैं) जिससे यह चराचर उच्चनीच सारा दृश्य जगत् प्रतीत होरहा है, उस स्वयंप्रकाश सत्य ब्रह्म की प्राप्ति, असत्य से होजाय तो इसमें आश्चर्य क्यों करते हो !

(स्वप्नमें ही नहीं, जगत् को सत्य बताने वाली जाग्रत् में भी
जगत् मिथ्या सिद्ध होता है। इसी से उपनिषदों में प्राणायाम-
व्रत को ही आत्मप्राप्ति का साधन बताया गया है।
उपनिषदों को इन्द्रियों पर विश्वास नहीं है)

मध्यप्राणं सुषुप्तौ स्वजनिमनुविशन्त्यग्निसूर्यादयोऽमी
वागाद्याः प्राणवायुं तदिह निगदिता ग्लानिरेषां न वायोः।
तेभ्यो दृश्यावभासो भ्रम इति विदितः शुक्तिकारौप्यकल्पः
प्राणायामव्रतं तच्छ्रुतिशिरसि मतं स्वात्मलब्धौ न चान्यत्॥३९

सुषुप्तिकालमें जब (इन वाक् आदि इन्द्रियों के) ये अग्नि सूर्य आदि

देवता अपने उत्पादक मध्य प्राण (विराट्शरीर) में प्रवेश करजाते हैं तथा जब कि वागादि इन्द्रियें भी सुषुप्ति के समय प्राणवायु में प्रवेश कर जाती हैं तो (उपनिषदों के इस प्रकरण से) यही सिद्ध होता है कि अपने अपने अधिदेवता सहित इन्द्रियों की ही ग्लानि (अस्त) होती है, परन्तु प्राणवायु का अस्त कभी (सुषुप्तिमें भी) नहीं होता (क्योंकि वह तो सुषुप्ति के समय श्वास के रूप में प्रत्यक्ष ही देखा जाता है) फिर जाग्रत् काल में कुछ काल के लिये जब कि उन (अस्त होजाने वाली) चक्षुरादि इन्द्रियों से रूपरसादि दृश्यों का अवभास तुम्हें हो जाता है तो तुम उस को भी तात्विक क्यों मानते हो। वह तो एक भ्रम ही है। मानों किसी शुक्तिमें कोई प्रतिभासिक रजत ही दीख गया हो। उस शुक्तिरजत की तरह यह नामरूपरूपी जगत् भी ब्रह्मरूप अधिकरण में प्रातिभासिक है। ये इन्द्रियां—जोकि विषयदर्शन कराती हैं केवल जाग्रत्काल में रहती हैं, इसी से तीनों अवस्थाओं में अक्षुण्ण रहने वाला प्राणायामव्रत ही आत्मोपलब्धि का साधन बृहदारण्यक की **'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् प्राण्याच्चैवापान्याच्च'** (१-५-२३) इस श्रुति में बताया गया है और कोई नहीं (उसका तात्पर्य यह है कि यदि चक्षुरादि इन्द्रियों के व्रत पर विश्वास करोगे तो लाख प्रयत्न करने पर भी आत्मदर्शन नहीं कर सकोगे। क्योंकि ये इन्द्रियाँ स्वभावसे ही मिथ्या [त्रिकालबाधित] पदार्थों को दिखाया करती हैं, आत्मवस्तु को दिखाने के अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न करने में ये सदा ही बाधा डालती रहती हैं। उपनिषद् का तात्पर्य यही है कि इन इन्द्रियों पर विश्वास न किया जाय तथा प्राणायामव्रत का ही पालन किया जाय। नहीं तो मृत्यु का ग्रास होने से कौन बच सकता है।)

(वैराग्य से सुखाये हुए संसारवृक्ष को ज्ञानरूपी अग्नि आसानी से चिपट जाती है और झटपट जला डालती है)

नाकस्मादार्द्रमेधः स्पृशति च दहनः किंतु शुष्कं निदाघा-

दार्द्रं चेतोऽनुबन्धैः कृतसुकृतमपि स्वोक्तकर्मप्रजार्थैः ।
तद्वज्ज्ञानाग्निरेतत्स्पृशति न सहसा किन्तु वैराग्यशुष्कं
तस्माच्छुद्धो विरागः प्रथममभिहित स्तेन विज्ञानसिद्धिः ॥४०

गीले काष्ठ को अग्नि सुभीते से नहीं जलापाता किन्तु निदाघ-शुष्क (धूपमें सूखे) काष्ठ को ही जलाता है। ठीक इसी प्रकार अपने वर्णाश्रमविहित कर्मों के अनुष्ठान करने, पुत्रों को उत्पन्न करके इस लोक पर विजय प्राप्त करने, तथा अर्थसाध्य यज्ञदानादि का अनुष्ठान करलेने से बड़े भारी सुकृती चित्त का भी ज्ञानाग्नि से दाह नहीं होपाता (क्योंकि वह चित्त तो भार्यादि विषयजलों से सदा ही आर्द्र हुआ रहता है) जब कोई अधिकारी अपने चित्त को वैराग्यरूपी निदाघ से शुष्क कर डाले तो फिर ज्ञानाग्नि उसे छूते ही भस्मसात् कर डालती है। शुद्धवैराग्य जब किसी को उदय हो जाय (जब किसी को पामरजनबहुमत भार्यादि विषयों में से हीक आने लगे) तो यह वैराग्य ही सब से आवश्यक माना गया है। इसी की सहायता से ज्ञान जैसी पवित्र वस्तु किसी के हाथ लग सकती है।

न कर्मणा न प्रजया त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। परेण नाकं निहितं गुहायां बिभ्राजते तद्यतयो विशन्ति। अकेले वैराग्य से ही यती लोगों ने अमरभाव को प्राप्त कर लिया था। सकाम कर्मों के अनुष्ठान से, सन्तान को उत्पन्न करने से, अथवा बड़े बड़े दानों के करने से अमरभाव की प्राप्ति की दुराशा कभी मत करो। देखो! पर ब्रह्म ने अपने जिस नाक नामक अंश को हृदयरूपी गुफा में निधि के समान छिपाकर रख दिया है, जो कि सदा ही इस जगत् के पदार्थों को प्रकाश करता हुआ स्पष्ट ही प्रतीत हुआ करता है, उसी अमृत किंवा अमर भाव में यती लोग प्रवेश कर जाते हैं। वे उसी अमृत तत्व में सदा के लिये घुस बैठते हैं। फिर वे उसमें से कभी नहीं निकलते। उस अमृत-

भाव का लोभ उन्हें वहां से निकलने ही नहीं देता, मानो चन्द्रामृत के पान का लोभी कोई मृग अपनी इच्छा से उसी में फंसा रहगया हो। फिर तो उस यती का नाम रूप कुछ भी नहीं रहता, मानो कोई नमक का डला ही सदा के लिये समुद्र में घुल गया हो।

(ईश उपनिषत् भी वैराग्य से ही ज्ञानप्राप्ति को बताती है)

यत्किंचिन्नामरूपात्मकमिदमसदेवोदितं भाति भूमौ
येनानेकप्रकारै र्व्यवहरति जगद्येन तेनेश्वरेण।
तद्वत्प्रच्छादनीयं निभृतरशनया यद्वदेव द्विजिह्व-
स्तेन त्यक्तेन भोज्यं सुखमनतिशयं मागृधोन्यद्धनाद्यम्॥४१

असत् कहाने वाला नामरूपात्मक यह जो कुछ जगत् पृथिवी में तुम्हें प्रतीत होरहा है, वह अनेक प्रकारों से उस जिस ईश्वर की गुप्त सहायता से, व्यवहार किया करता है, निश्चितरूप से पहचाने हुए उसी परमात्मा से तुम भी (अपनी बुद्धि की सहायता लेकर) इस जगत् को ठीक इसी प्रकार आच्छादित कर डालो, जिस प्रकार कि निश्चितरूप से पहचानी हुई रज्जु से, कल्पित सर्प को ढक दिया जाता है। (इस जगत् के काल्पनिक रूप को देखना छोड़ कर इस के तात्विक रूप पर ही सदा दृष्टि रक्खा करो) इस भ्रामक जगदाभास को दूर त्याग (छोड़) कर (इस के क्षणिक रूप की सर्वथा अपेक्षा करके) सब से उत्कृष्ट जो आत्यन्तिक आत्मसुख है उस का ही उपभोग सदा किया करो। धनादि विषयसुख की दुरभिलाषा कभी मत करो।

इसी महावार्ता को ईशावस्योपनिषत् की पहली श्रुति में यों कहा गया है कि यह जो प्रत्यक्ष व्यवहार करता हुआ नामरूपात्मक जगत् तुम्हें दीखता है, उस सब को सर्वोत्कृष्ट परमात्मतत्व से ढक डालो, अर्थात् उस जगद्भासक परमात्मतत्व को अपनी तपस्विनी बुद्धि से देख कर इस जगद्भास को तुच्छ समझ लो। जब तुम इस जगद्भास का त्याग

कर चुको तो शेष रहे हुए आनन्दरूपी आत्मद्रव्य का तृप्तिपर्यन्त यथेच्छ उपभोग करलो । धनैश्वर्यादि की तुच्छ अभिलाषाओं को अपने हृदय में कभी मत उठने दो । जब कभी ऐसी भ्रामक इच्छायें उदय हुआ करें तो अपने मन से यह प्रश्न किया करो कि हे मेरे मन ! बताओ तो सही कि ये धनादि पदार्थ अन्ततः किस वस्तु से उत्पन्न हुए हैं ? जब तुम्हारा मन उन के उपादान का विचार करेगा तो तुरन्त ही उस की दृष्टि आत्मवस्तु पर जा पड़ेगी, और यह तुम्हारी विषयप्रार्थनापिशाची सदा के लिये अन्तर्हित हो जायगी । तभी तुम अपने कैवल्यका अनुभव ले सकोगे ।

(जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के उपाय)

जीवन्मुक्ति र्मुमुक्षोः प्रथममथ ततो मुक्तिरात्यन्तिकी च
तेऽभ्यासज्ञानयोगाद्गुरुचरणकृपापाङ्गसङ्गेन लब्धात् ।
अभ्यासोपि द्विधा स्यादधिकरणवशाद्दैहिको मानसश्च
शारीरस्त्वासनाद्यो ह्युपरतिरपरो ज्ञानयोगः पुरोक्तः ॥४२॥

मुमुक्षु पुरुषों को ज्ञान हो जाने के पश्चात् प्रथम तो जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है, उस के पश्चात् प्रारब्धभोग के समाप्त हो जाने पर आत्यन्तिक मुक्ति (विदेहमुक्ति) मिल जाती है। ये दोनों प्रकार की मुक्तियें आत्मदर्शी गुरु के चरणों की कृपा से प्राप्त किये हुए अभ्यास तथा ज्ञान के योग से मिला करती हैं । अधिकरण के अनुसार वह अभ्यास भी दो प्रकार का पाया जाता है। पहले अभ्यास को दैहिक (शारीर) अभ्यास कहते हैं। दूसरे को मानस अभ्यास कहा जाता है। आसनादिसाधन दैहिक अभ्यास में गिने जाते हैं। दूसरे को उपरति अर्थात् प्रपंचोपशम कहते हैं । इसी को पहले ज्ञानयोग नाम से भी कहा गया है ।

(जीवन्मुक्ति)

सर्वानुन्मूल्य कामान् हृदि कृतनिलयान् क्षिप्तशङ्कूनिवोच्चै-
र्दीर्यद्देहाभिमान स्त्यजति चपलतामात्मदत्तावधानः ।
यात्यूर्ध्वस्थानमुच्चैः कृतसुकृतभरो नाडिकाभिर्विचित्रं
नीलश्वेतारुणाभिः स्रवदमृतभरं गृह्यमाणात्मसौख्यः ॥४३

जब कोई महापुरुष आत्मा का निरन्तर अनुसन्धान करने लगता है तो वह (अनेक कल्पों से) संस्काररूप से हृदय में पड़े हुए अपने सम्पूर्ण मनोरथों को इस प्रकार समूल उखाड़ डालता है, मानो किन्हीं गहरे गड़े हुए खूटों को किसीने उखाड़ कर दूर फेंक दिया हो । फिर तो (उन मनोरथों की पूर्ति के साधन) इन देहों में से भी उस महानुभाव का अभिमान स्वयमेव विदीर्ण हो जाता है । फिर उस महात्मा में चपलता नहीं रहती (जब उस में देहाभिमान ही नहीं रहता तो उस की अहन्ता और ममता भी स्वयमेव नष्ट हो जाती है, मनोवेग छूट जाता है, प्रवृत्ति रुक जाती है, खोजने पर भी प्रवृत्ति का पता नहीं पाता । परन्तु यह सब अद्भुत गाथा तभी होती है, जब कोई अनन्यभाव से आत्मदेव की शरण में जा पड़ा हो) वह महात्मा (अपने अधमरे अहङ्कार से) यथाकथञ्चित् केवल आत्मसुख का भोग लेता हुआ, नील श्वेत तथा अरुण आदि नाना प्रकार की विचित्र नाडियों से मिल कर बने हुए, अमृत रस से भरे हुए, बड़े ही अद्भुत ऊर्ध्वस्थान को (जिस को सहस्रदलचक्र किंवा ब्रह्मरन्ध्र, अथवा भ्रमर की गुहा भी कहते हैं, सुषुम्ना के मार्ग से हो कर) प्राप्त हो जाता है ।

ज्ञान की अवर्णनीय महिमा से इडा पिङ्गला के लौकिक मार्ग को छोड़ कर सुषुम्ना नामक मोक्षद्वार में ही उस का अधमरा मन और प्राण विचरण करने लगते हैं । उस मन के द्वारा वह महात्मा सदा ही ब्रह्मरन्ध्र में निवास किया करता है ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते। तद्यथाहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमनस्थिकोऽशरीरः प्राज्ञ आत्मा ब्रह्मैव लोक एव सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः। तदप्येते श्लोका भवन्ति—अणुः पन्था विततः पुराणो माङ्स्पृष्टोनुवित्तो मयैव, तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद उत्क्रम्य स्वर्गं लोकमितो विमुक्ताः। तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च। एष वः पन्था ब्रह्मणा हानुवित्त स्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च।
इस मुमुक्षु पुरुष के हृदय में पड़े हुए सम्पूर्ण संकल्प जब शान्त हो जाते हैं तो उस की महिमा का क्या वर्णन करें, फिर तो वह मरणधर्मा होकर भी सदा के लिये अमरभाव को प्राप्त हो जाता है। तब तो वह इस नश्वर देह में रहकर भी परमानन्दस्वरूप ब्रह्म का अनुभव कर लेता है। शरीर में रह कर भी उसे शरीराभिमान नहीं रहता। मानो कोई सांप की कैंचुली सांप के घर में निश्चेष्ट पड़ी हुई सो रही हो, जो दूरसे सर्प सी दीखती हो परन्तु सर्प का कोई भी काम न करती हो। ठीक इसी प्रकार वह महात्मा भी इस शरीर में प्रारब्धभोग-पर्यन्त निश्चेष्ट होकर पड़ा रहता है। प्रारब्धरूपी वायु के झोंके से कैंचुली के समान कभी कभी हिल तो लेता है, परन्तु मनोराज्य के लिये कभी भी किसी वृथोद्योग को प्रारम्भ नहीं करता। हे जनक! तुम उसे एक बिना हड्डियों का पुतला ही समझलो। बिना हड्डियों का मांसपिण्ड जिस प्रकार हिल चल नहीं सकता इसी प्रकार उस के व्यापार भी बन्द होजाते हैं। हड्डियों से बने इस मांसपिण्ड पर उसे अभिमान नहीं रहता। जिस प्रकार ऋतु आने पर पेड़ फलने लगते हैं इसी प्रकार प्रारब्धरूपी ऋतु के आने पर उस के शरीर से स्वभावतः थोड़ी बहुत क्रिया हो जाती है। परन्तु उन क्रियाओं पर उसे किसी प्रकार का अभिमान नहीं होता कि अमुक क्रियायें मेरे द्वारा निष्पन्न हुई हैं। इसी

अर्थ को बताने वाले उक्त दो श्लोक हैं । सुषुम्ना नामका एक बड़ा ही सूक्ष्ममार्ग है । जिसे मार्गों में सर्वोत्तम मार्ग माना गया है । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पहले तो मुझे गुरु के मुख से उस का ज्ञान हुआ था । फिर मैंने स्वयं भी उस मार्ग में चलने का पूर्णाभ्यास किया । आजकल के ब्रह्मज्ञानी लोग भी इस प्रपंच से छूटकर उसी मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र नामक स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाते हैं—जिस में अनेक वर्णों वाली अनेक नाडियां विद्यमान हैं । मुझ से पहले ब्रह्मा भी इसी मार्ग से होकर गया है । कोई सुकृती ब्रह्मज्ञानी ही तैजस बन कर इस मार्ग से यात्रा किया करता है ।

(जीवन्मुक्ति)

**प्रापश्यद्विश्वमात्मेत्ययमिह पुरुषः शोकमोहाद्यतीतः ।
शुक्रं ब्रह्माध्यगच्छत्स खलु सकलवित्सर्वसिद्ध्यास्पदं हि ।
विस्मृत्य स्थूलसूक्ष्मप्रभृतिवपुरसौ सर्वसंकल्पशून्यो
जीवन्मुक्तस्तुरीयं पदमधिगतवान् पुण्यपापैर्विहीनः ॥४४॥**

यह जीवन्मुक्त महात्मा (प्रारब्धभोगपर्यन्त) इस देह में रहकर भी इस विश्व को ही अपना आत्मा समझा करता है (वह फिर इस विश्व को विश्वाकार से देखने का आत्मद्रोह कभी नहीं करता । किन्तु इस को सदा आत्मरूप से ही देखा करता है । जौहरी जिस प्रकार गहनों को छोड़ कर सोने पर दृष्टि रखता है इसी प्रकार वह भी इस विश्व के जनक आत्मदेव पर ही अपनी परमोदार दृष्टि डाला करता है) यही कारण है कि जीवन्मुक्तों को शोकमोहादि का बन्धन नहीं लगता (क्योंकि उन की दृष्टि में जिस का शोक किया जाय तथा जिस पर मोह करना हो वह भी तो उन का आत्मा ही होता है । फिर तो वह शोक और मोह के भ्रमपूर्ण दिखावे में कभी नहीं पड़ता) वह महात्मा साक्षात् हिरण्यगर्भ और सकलवित् (सर्वज्ञ) हो जाता है । अणिमादि

आठों सिद्धियें हाथ बांध कर उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा किया करती हैं। वे लोग तो इस स्थूल तथा सूक्ष्म आदि सब प्रकार के शरीरों को (सुषुप्ति के समान ही) भूले रहते हैं। फिर तो उन्हें किसी प्रकार का भी संकल्प नहीं उठता। वे सदा ही चतुर्थ आत्मतत्व का उपभोग ले ले कर तुन्दिल हुए रहते हैं। यही कारण है कि फिर उन पर पुण्य पाप का लेप कभी नहीं चढ़ता।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् (ईशावास्य) ज्ञाननामक जिस सौभाग्यकाल के आजाने पर ज्ञानी मुनि की दृष्टि में ये सकल भूत उस के आत्मा ही होजाते हैं, जब वह प्रत्येक वस्तु को ब्रह्मरूप देखने लगता है, तो बताओ कि फिर उस समय मोह अथवा अज्ञान क्या रहा? और अज्ञान से उत्पन्न होने वाला शोक क्या हुआ? क्योंकि वह तो अब पूर्ण ज्ञानी हो चुका है। उसे तो अब अभेद (अथवा एकत्व) की गुप्त वार्ता का रहस्य मालूम हो चुका है। उसने तो अब अपनी एकत्वभावना के प्रभाव से सब ही को जान लिया है। संक्षेप में यों ही कहो कि इस जीवन्मुक्त ने तो शुक्र ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ के स्वरूप को प्राप्त कर लिया है। जिस प्रकार इस समस्त ब्रह्माण्ड में अहंभाव रखने वाला किंवा इस समस्त विश्व को आत्मरूप देखने वाला हिरण्यगर्भ इसके किसी व्यष्टि के मोह अथवा शोक में नहीं पड़ता, इसी प्रकार वह भी किसी का शोक या मोह नहीं करता। उस जीवन्मुक्त को तो पाप नामक अहङ्कार से रहित अपना शुद्ध रूप ही प्राप्त होजाता है। नस नाड़ियों से बने हुए इस स्थूल देह में से बाहर निकल कर वह व्यापक हो चुकता है। लिङ्ग देह में से भी वह कूच कर जाता है। यों वह तो सदा ही महाकारण चतुर्थ देह में रहने लगता है। ऐसे चतुर्थ देह में रहने वाले महात्मा को ही जीवन्मुक्त समझा करो। मुमुक्षु लोगों को ऐसी ही अवस्था को प्राप्त

करने का उद्योग करना चाहिये। उन की इस सुनसान शान्ति को ही जीवन्मुक्ति का महोत्सव कहा जाता है।

(ऋग्वेद में जीवन्मुक्त की परिस्थिति)

यः सत्वाकारवृत्तौ प्रतिफलति युवा देहमात्रावृतोपि
तद्धर्मैर्बाल्यवार्द्धक्यादिभिरनुपहतः प्राण आविर्बभूव।
श्रेयान् साध्यस्तमेतं सुनिपुणमतयः सत्यसङ्कल्पभाजो
ह्यभ्यासाद्देवयन्तः परिणतमनसा साकमूर्ध्वं नयन्ति ॥४५॥

जो आत्मा सत्वाकारवृत्ति में प्रतिबिम्बित हो जाता है, वही जीव कहाने लगता है। देहों से आवृत हो जाने पर भी वह देह के बाल्य यौवन तथा वार्धक्य आदि धर्मों से परिवर्तित नहीं होता। वह सदा ही श्रेयान् अर्थात् कल्याणरूप बना रहता है। उस को उसकी उत्तम गति को प्राप्त करा देना चाहिये। सत्यनामक ब्रह्म में ही सदा अपनी मनोगति रखने वाले जो कुशलमति जीवन्मुक्त लोग हैं वे ज्ञानयोग के अभ्यास (की महिमा) से देवभाव को प्राप्त करने की इच्छा के कारण, निःसंकल्प मन को भी साथ लेकर, इस प्राण नामक जीव को ऊपर उठा लेते हैं। अर्थात् अपने प्राण और मन को सुषुम्नाद्वार से सदा ही ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ाये रहते हैं।

ऋग्वेद में कहा है '**युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः। तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः**। जिस युवा नामक मुख्य प्राण पर देह के बाल्य वार्धक्य आदि धर्मों का प्रभाव कभी नहीं पड़ता, वह मुख्य प्राण अन्तः-करण की सत्वाकार वृत्ति में प्रतिफलित (प्रतिबिम्बित) हो कर शरीर की कल्पित ओढ़नी को ओढ़ कर ही इस संसार में जीवभाव को प्राप्त होकर आगया है इस में संशय मत करो, तुम इसे एक निश्चित तत्व ही समझलो। वह उत्पन्न होते ही स्वभाव से सत्कर्मों में निरत हो जाता

है। बड़े दृढव्रती क्रान्तदर्शी ज्ञानी लोग देवभाव को पाने की शुभ इच्छा से प्रेरित होकर उस मुख्य प्राण तथा मन को कभी भी विषयारण्य में पर्यटन करने नहीं देते। वे तो सदा ही सुषुम्नानामक मोक्ष-मार्ग से उन (अपने प्राण तथा मन) को ब्रह्मरन्ध्र में बैठाये रहते हैं। वे लोग वहां की लोकोत्तर शीतलता में से निकाल कर अपने प्राण तथा मन को तीव्र विषयाङ्गारों से भरी हुई इस संसार रूपी रसोई में झुलसने के लिये कभी नहीं निकलने देते।

(निर्वाणमुक्ति या विदेहमुक्ति)

प्रायोऽकामोऽस्तकामो निरतिशयसुखायात्मकामस्तदासौ
तत्प्राप्तावाप्तकामः स्थितचरमदश स्तस्य देहावसाने।
प्राणा नैवोत्क्रमन्ति क्रमविरतिमिताः स्वस्वहेतौ तदानीं
क्वायं जीवो विलीनो लवणमिव जलेऽखण्ड आत्मैव पश्चात्॥४६

ऊपर कहे हुए जीवन्मुक्त महात्मा लोग प्रायः करके सदा अकाम ही रहने लगते हैं (क्योंकि उन का मन आत्माकार हुआ रहता है) उन की कामनाओं का सर्वथा अस्त हो जाता है। परन्तु वे जीवन्मुक्त महात्मा लोग निरतिशय सुख अथवा परमानन्द का भोग लेने के लिये कभी कभी अपने आत्मा की ही कामना कर लेते हैं। ज्यों ही उनके मानस-नेत्रों के सामने आत्मा की सूरत खिंच जाती है तो वे तुरन्त ही आप्त-काम बन बैठते हैं। ऐसी दिव्य आप्तकामता का जब किसी अधिकारी में प्रादुर्भाव हो जाता है तो समझलो कि अब वह जीवन्मुक्ति की अन्तिम अवस्था को प्राप्त हो चुका है। (इस पावनी अवस्था से प्रभावित होकर वे जीवन्मुक्त लोग इस शरीर को अन्न जल ग्रहण कराना भी भूलजाते हैं तब तो उनका यह शरीर नष्ट हो जाता है। यों) उस जीवन्मुक्त का देहावसान होते ही उसे विदेहमुक्ति का परमपद मिल जाता है। फिर तो वह दशातीत अवस्था को पा लेता है। क्योंकि

दशा की सूचना देने वाले प्राणादि फिर उस के साथ साथ नहीं चलते। दूसरे देह तक चलने का सामर्थ्य उस के प्राणों में (इन्द्रियों) नहीं रहता। वे तो क्रम से अपने अपने कारणों में (चक्षु सूर्य में मन चन्द्रमा में इत्यादि प्रकार से) लीन हो जाते हैं । (उस समय की गम्भीर अवस्था का सम्पूर्ण वर्णन कैसे किया जाय ? अनन्त के अनन्त में मिलने के महोत्सव को क्योंकर दिखाया जाय?) भला बताओ तो सही कि उस समय उनका वह जीवभाव कहां रह गया है? वह बिचारा तो जल में लवण के समान सदा के लिये विलीन हो चुका है। लवण घुल कर जिस प्रकार जल ही जल रह जाता है इसी प्रकार इन उपाधियों के नष्ट होते ही एक अखण्ड आत्मा ही आत्मा वहां रह गया है। (इन उपाधियों के नष्ट हो जाने से अब तो कहीं उस के जीवभाव का खोज ही हाथ नहीं आता। 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' यह जीव पहले भी ब्रह्म ही था, मध्य में कुछ काल के लिये उसे जीवत्वरूपी भ्रम हो गया था, ज्ञान की महिमा से अब वह फिर भी ब्रह्मभाव को प्राप्त हो गया है। मानो सुबह का भूला सायंकाल को फिर अपने ही घर आ बैठा है।)

(विदेहमुक्ति के पश्चात् उस का लिङ्गशरीर छिन्न भिन्न होकर अपने अपने कारणों में वापिस चला जाता है)

पिण्डीभूतं यदन्तर्जलनिधिसलिलं याति तत्सैन्धवाख्यं
भूयः प्रक्षिप्तमस्मिन् विलयमुपगतं नामरूपे जहाति।
प्राज्ञ स्तद्वत्परात्मन्यथ भजति लयं तस्य चेतो हिमांशौ
वागग्नौ चक्षुरर्के पयसि पुनरसृग्रेतसी दिक्षु कर्णौ ॥४७॥

समुद्र के खारी जल को जब नमक बनाने वाले लोग सुखा कर पिण्ड बनालेते हैं तो उसी का लवण नाम रख दिया जाता है। परन्तु जब कि उस लवणखण्ड को फिर समुद्र में फेंक दिया जाता है तो उस का वह नाम और रूप कुछ भी नहीं रहता। (बृहदारण्यक २-४-२१)

इसी प्रकार यह प्राज्ञ भी परमात्मा में से उत्पन्न हो जाता है, जब कोई ज्ञानी बेधड़क होकर, ज्ञान समुद्र में कूद पड़ता है तो उस का जीवभाव उसी में घुल जाता है—लीन हो जाता है। उस समय उसका चित्त चन्द्रमा में, उस की वाणी अग्नि में, उस के चक्षु सूर्य में, रक्त और वीर्य जल में, तथा उस के कान दिशाओं में विलीन हो जाते हैं (बृहदारण्यक ३ २-१३) यों उस का लिङ्गशरीररूपी महापाश सदा के लिये छिन्न भिन्न हो जाता है।

(इस म्रियमाण संसार में जो अमर चीज़ है वही ब्रह्म है, उस तत्व से भिन्न सभी कुछ विनाशी है)

क्षीरान्तर्यद्वदाज्यं मधुरिमविदितं तत्पृथग्भूतमस्मा-
द्भूतेषु ब्रह्म तद्वद्व्यवहृतिविदितं श्रान्तविश्रान्तिबीजम्।
यं लब्ध्वा लाभमन्यं तृणमिव मनुते यत्र नोदेति भीतिः
सान्द्रानन्दं यदन्तः स्फुरति तदमृतं विद्धयतो ह्यन्यदार्तम्॥४८

दूध की मधुरिमा से पहचाना हुआ माखन यद्यपि दूध के अन्दर छिपा रहता है परन्तु वह उस से पृथक् ही रहता है। इसी प्रकार इस चलने वाले जगद्व्यवहार से पहचाना जाने वाला, श्रान्त लोगों को विश्रान्ति देने का मुख्य कारण ब्रह्म, यद्यपि भूतों के अन्दर समा रहा है तो भी वह उनसे भिन्न ही है। जिस ब्रह्मरूपी महालाभ को पा लेने पर प्राणी दूसरे लौकिक क्षुद्र लाभों को तृण के समान उदास भाव से देखने लगते हैं (अद्वैतभाव होने के कारण) जिस ब्रह्म में भय नाम की अनिष्ट अवस्था कभी भी उत्पन्न नहीं होती, सुषुप्ति के समय जब कि इस स्थूल सूक्ष्म प्रपंच का लय हो जाता है और यह मन आत्माकार हो जाता है, तब जिस एक सान्द्रानन्द (घनानन्द) वस्तु ही स्फूर्ति होती है ब्रह्मनामक उसी तत्व को तुम एक अमर पदार्थ समझ लो। इस आत्मतत्व के अतिरिक्त (और किसी भी पदार्थ को उठा देखो, वह तो)

सब ही आर्त अर्थात् विनाशी है (उस का किसी उत्तर क्षण में ही बाध हो जाने वाला है)।

भावार्थ यह है कि यद्यपि यह दुग्ध जलरूप ही है परन्तु इस में जो जल से विलक्षण मधुरिमा पायी जाती हैं वह उस में छिपे हुए माखन की ही होती है इसी प्रकार यह असद्रूप जड देह भी जो कि चलने फिरने आदि व्यवहारों को करने लगता है तथा ये जड इन्द्रियें भी विषयों का प्रकाश करने लगती हैं तो यह सब आत्मा के ही कारण से होता है शरीर से नहीं। क्योंकि आत्मविहीन मृत शरीर में यह सब कुछ देखा नहीं जाता (देखो बृहदारण्यक ३-७-२ से २३ तक)

(सब प्रपंच ब्रह्म में ही ओत प्रोत है। वस्त्र का तत्वज्ञान करें तो जैसे सूत्र ही शेष रहजाता है ऐसे ही इस प्रपंच के तत्व की जिज्ञासा करें तो अन्त में ब्रह्म ही शेष रह जायगा)

ओतः प्रोतश्च तन्तुष्विह विततपट श्चित्रवर्णेषु चित्र-
स्तस्मिञ्जिज्ञास्यमाने ननु भवति पटः सूत्रमात्रावशेषः।
तद्वद्विश्वं विचित्रं नगनगरनरग्रामपश्वादिरूपं
प्रोतं वैराजरूपे स वियति तदपि ब्रह्मणि प्रोतमोतम्॥४९॥

किसी लम्बे बहुरंगे थान को लेलो वह अपने बहुरंगे तन्तुओं में ही ओत प्रोत हुआ है। किसी सादे थान को पकड़ लो वह अपने सादे तन्तुओं में ही ओत प्रोत हुआ रहता है। यदि हम उस पट के सत्यरूप को जानना चाहें तो यही सिद्ध होता है कि वह केवल सूत्र के रूप में हमारे सामने रह जाता है। (वह पट अपने ताने में ओत है तथा बाने में प्रोत हो रहा है। ऐसे एक किसी पराश्रित पदार्थ को हम 'पट' कहने लगते हैं। अपने अन्तरात्मा से पूछो कि सूत्रों के अतिरिक्त और कौन सी वस्तु तुम्हें वहां पर अनुभव में आती है) ठीक इसी प्रकार पर्वत नगर मनुष्य ग्राम तथा पशु आदि विचित्र विचित्र वस्तुयें वैराज-

रूप ब्रह्माण्ड शरीर में ओत प्रोत हो रही हैं, वह वैराज भी आकाश में ओत प्रोत हो रहा है, वह आकाश भी अन्त में ब्रह्म तत्व में ओत प्रोत हो रहा है।

वह ब्रह्म ही एक अक्षर वस्तु इस संसार में विराज रही है। उस में अणु महत् दीर्घ तथा ह्रस्व ये कोई भी परिमाण नहीं हैं, लोहितादि कोई भी वर्ण उस में नहीं होते, चिकनाई भी उस में नहीं पायी जाती, उस की छाया अर्थात् मूर्ति भी नहीं है, भावरूपी अज्ञान अथवा माया से भी वह परे है, वायु और आकाश से भी वह रहित है, वह सर्वथा असंग है, उस को स्पर्श नहीं किया जा सकता, गन्ध और रस भी उस में नहीं हैं, चक्षु श्रोत्र वाणी और मन नामक इन्द्रियें भी उस में नहीं हैं, इन्द्रियों का अधिदैवरूप तेज भी वह नहीं है, इन्द्रियों को चलाने वाला प्राण भी उसे नहीं कह सकते, मुख भी उस के नहीं पाया जाता, नाम और गोत्र भी उस का कुछ नहीं होता, जरा भी उसे नहीं आती, मरने के प्रसंग को भी वह कभी नहीं देखता, दूसरा न होने से उसे कभी डरना नहीं पड़ता, वह सदा अभय रहता है, वह सदा ही मुक्त-स्वभाव है, रज (अर्थात् गुणों) का संपर्क भी उस में नहीं होता, इसी से वह लोकातीत बना रहता है, शब्द के बोलते ही वह किसी के सामने उपस्थित नहीं हो जाता, अथवा शब्दों की पुकार उस तक नहीं पहुंचती, कोई भी शब्द उसके स्वरूप का निरूपण नहीं कर सकता, तत्वदृष्टि से देखो तो उसका विवर्त भी आजतक नहीं हो पाया, गम्भीर विचार करो तो इतनी खटपट के बाद भी, इतना प्रपंच हो जाने के पश्चात् भी, वह अभी तक ढका नहीं जासका है, जिस से पहला कोई भी नहीं है, जिस से दूसरा भी कोई नहीं दीखता, जिस के अन्दर भी कोई अन्य नहीं है, जिसका बाह्य आवरण भी आज तक ज्ञात नहीं होसका है, ऐसी जो एक महावस्तु है असंग तथा उदासीन होने के कारण जो कभी किसी को स्वीकार ही नहीं करती, तथा अग्राह्य होने से और भी कोई जिस को

व्याप्त नहीं कर सकता, उसी को तुम अक्षर नाम का तत्व समझ लो (बृहदारण्यक ३-८-८)

(आत्मा एक है वही बुद्धियों में प्रतिबिम्बित हो कर जीव-भाव को पाजाता है)

रूपं रूपं प्रतीदं प्रतिफलनवशात् प्रातिरूप्यं प्रपेदे ह्येको द्रष्टा द्वितीयो भवति च सलिले सर्वतोऽनन्तरूपः। इन्द्रो मायाभिरास्ते श्रुतिरिति वदति व्यापकं ब्रह्म तस्मा-ज्जीवत्वं यात्यकस्मादतिविमलतरे बिम्बितं बुद्ध्युपाधौ ॥५०

यह ब्रह्मतत्व प्रतिबिम्ब पड़ जाने के कारण उस उस रूप में वैसा वैसा ही बन गया है। वह एक ही आत्मतत्व प्रत्येक पदार्थ में प्रतिबि-म्बित होकर अनेकसा बन गया है। **सलिले एको द्रष्टा द्वितीयो भवति।** देख लो कि जलरूपी उपाधि के सामने आते ही एक ही द्रष्टा द्वितीय सा बन-जाता है। इन्द्रनामक परमात्मा ने माया के कारण सर्वतः अगणितरूप धारण कर लिये हैं (**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** माया के कारण वह एक ही इन्द्र बहुरूप होजाता है) यों अनेक श्रुतियें ब्रह्म को ही सर्वत्र व्यापक बता रही हैं। वह ब्रह्म ही न जाने क्यों अत्यन्त स्वच्छ बुद्धि आदि उपाधियों में प्रतिबिम्बित हो कर जीव बन बैठता है।

उसके जीव बनने की बात समझ में नहीं आती। क्योंकि जीव को होने वाले सुख और दुःख के भोग क्या हैं? अनादिकाल से आजतक जितने सुख दुःख हमने भोगे हैं उनकी अब कौनसी स्मृति हममें रह गयी हैं—उनका तो होना न होना एकसा ही है। आगामी सुखों और दुःखों का भी यही हाल होजाना है। फिर हम नहीं समझते कि जीव बनने में कौनसा उद्देश्य सामने रहा होगा। इसी प्रयोजनाभाव को देख कर ज्ञानी लोग इस संसार को मायामात्र कहते हैं। यह सब माया का ही खेल है। अन्यथा इस का कोई स्थायी प्रयोजन क्यों दृष्टिगोचर नहीं होता?

(जैसी उपाधि होती है ब्रह्म भी उस जैसा ही भासने लगता है)

तज्ज्ञाः पश्यन्ति बुद्ध्या परमबलवतो माययाक्तं पतंगं
बुद्धावन्तः समुद्रे प्रतिफलितमरीच्यास्पदं वेधसस्तम् ।
यादृग्यावानुपाधिः प्रतिफलति तथा ब्रह्म तस्मिन्यथास्यं
प्राप्तादर्शानुरूपं प्रतिफलति यथावस्थितं सत्सदैव ॥५१॥

उस जीव को पहचानने वाले, शास्त्र के मर्मज्ञ लोग अपनी बुद्धि से जानते हैं कि बुद्धि नामक समुद्र के अन्दर परमात्मा की जो किरणें प्रतिबिम्बित हो गयी हैं वही जीवका यथार्थ स्वरूप है । परन्तु वह परम बलवान् वेधस अर्थात् हिरण्यगर्भ की माया से व्याप्त हो रहा है (किंवा मायामोहित हो गया है) वह बुद्धिरूपी उपाधि जिस रूप की और जितनी होती है उस में उसी परिमाण से ब्रह्म का प्रतिफलन (प्रतिबिम्ब) हो जाता है । (तात्पर्य यह है कि वह ब्रह्म, सत्वमय रजोमय तमोमय जिस प्रकार की तथा स्थूल सूक्ष्म दीर्घादि जितने परिमाण की उस की उपाधि होती है उस में उस के अनुरूप ही प्रतिफलित हो जाता है) जिस प्रकार कि हमारा मुख सामने आये आदर्श के अनुरूप ही प्रतिफलित हो जाता है (वह दीर्घ स्थूल लघु मलिन अथवा शुद्ध जैसा भी हो हमारा मुख भी उस के अनुरूप दीर्घ स्थूल लघु मलिन तथा शुद्ध हो जाता है) परन्तु उस मुख में स्वतः कोई भी परिवर्तन नहीं आता । वह तो स्वयं पहले की तरह स्थित रहता है । ऐसी ही अपरिवर्तनीय अवस्था ब्रह्म की भी समझ लो ।

यही बात वेद में कही गयी है "पतंगमक्त मसुरस्य मायया **हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः । समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः ।** जिस का तात्पर्य यही है जिस की माया का पार नहीं पाता, ऐसे असुर परमात्मा की माया से मोहित हो कर संसार में फिसल पड़ने वाले इस जीव को, विवेकी लोग अपने मन

की सूक्ष्म वृत्तियों से पहचानते हैं कि वह बिचारा बुद्धिरूपी समुद्र में डूबा पड़ा है। वे कवि लोग उस बुद्धि में प्रतिबिम्बित, परमात्मा की जो चित्स्वरूप किरण है उस को पाने का स्थान भी उसी बुद्धि को बताते हैं। वे लोग स्वयं भी वहीं उस की उपासना करते हैं।

(उपाधियों में ब्रह्म की प्रतीति हो तो रही है परन्तु वह ब्रह्मतत्व उपाधि के धर्मों से अछूता ही रहता है)

एको भानुस्तदर्थप्रतिफलनवशाद्यस्त्वनेकोदकान्त-
र्नानात्वं यात्युपाधिस्थितिगतिसमतां चापि तद्वत्परात्मा।
भूतेषूच्चावचेषु प्रतिफलित इवाभाति तावत्स्वभावा-
वच्छिन्नो यः परन्तु स्फुटमनुपहतो भाति तावत्स्वभावैः ॥५२

भानु यद्यपि एक ही है परन्तु वह उन उन अनेक पदार्थों के मध्य में प्रतिबिम्बित हो कर नाना भी हो जाता है तथा उन उपाधियों की स्थिति और गति की समता को भी प्राप्त होने लगता है। ठीक इसी प्रकार परमात्मा भी उच्चावच भूतों में प्रतिबिम्बित सा होकर उन उन के स्वभाव से अवच्छिन्न सा हो जाता है। परन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि वे कोई भी स्वभाव उस में अभी तक किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सके हैं। ज्ञानी लोगों को वह सदा अपनी अनुपहत दशा में ही दर्शन दिया करता है।

(चन्द्रमा में स्वयं चमक नहीं है उसे सूरज से मिलती है, बुद्धि में भी जीवनज्योति नहीं है इसे आत्मा से मिली है। बुद्धि को मिली हुई वही उधारी चमक इन्द्रिय द्वारों में को हो होकर विषयों को ग्रहण कराती रहती है)

यद्वत्पीयूषरश्मौ दिनकरकिरणैर्बिम्बितैरेति सान्द्रं
नाशं नैशं तामिस्रं गृहगतमथवा मूर्छितं कांस्यपात्रे।

तद्वद्बुद्धौ परात्मद्युतिभिरनुपदं बिम्बिताभिः समन्ता-
द्भासन्ते हीन्द्रियास्यप्रसृतिभिरनिशं रूपमुख्याः पदार्थाः ॥

जिस प्रकार चन्द्रमा में प्रतिबिम्बित हुए सूर्य की किरणों से रात्रि का घोरान्धकार नष्ट हो जाता है, अथवा कांसे के पात्र में पड़ी हुई सूर्य की किरणों से (जब वे लौट कर घर में पहुँचती हैं तो) घर का अन्धकार नष्ट हो जाता है, ठीक इसी प्रकार बुद्धि में प्रतिबिम्बित परमात्मा की जो चिद्रूप किरणें हैं उन से रूपरसादि सम्पूर्ण पदार्थ प्रतीत हुआ करते हैं, जब कि वे किरणें इन्द्रियरूपी नालियों में होकर बाहर फैला करती हैं।

(पूर्णात्मा और अवच्छिन्न आत्मा जब मिल बैठते हैं तो अविद्या अपने सम्पूर्ण परिवार सहित मर जाती है)

पूर्णात्मानात्मभेदा त्त्रिविधमिह परं बुद्ध्यवच्छिन्नमन्य-
त्तत्रैवाभासमात्रं गगनमिव जले त्रिप्रकारं विभाति।
अम्भोवच्छिन्नमस्मिन् प्रतिफलितमदः पाथसोऽन्तर्बहिश्च
पूर्णावच्छिन्नयोगे व्रजति लयमविद्या स्वकार्यैः सहैव ॥५४॥

इस उपाधि में ही तीन प्रकार का ब्रह्म प्रतीत होता है—एक पूर्ण दूसरा आत्मा तथा तीसरा अनात्मा। पर अर्थात् उपाधि के अन्दर बाहर रहने वाला 'पूर्ण' कहाता है, बुद्धि से युक्त किंवा बुद्ध्यवच्छिन्न को 'आत्मा' कहा जाता है, तीसरा तो उस बुद्धि में पड़ा हुआ आभास किंवा प्रतिबिम्ब ही है (वह तो स्वभाव से ही अनात्मा है)। उदाहरण के रूप में आकाश भी ठीक इसी प्रकार तीन प्रकार का देखा जाता है—एक तो जल से आवृत आकाश, दूसरा उस जल में प्रतिबिम्बित आकाश तथा तीसरा उस जल (से पृथक् परन्तु उस जल) के अन्दर और बाहर रहने वाला महाकाश कहाता है। पूर्ण और अवच्छिन्न का योग (जब किसी अधिकारी को यह ज्ञान हो जाय कि यह पूर्ण आत्मतत्व तथा यह बुद्धि से अवच्छिन्न आत्मतत्व दोनों एक ही हैं तो यही पूर्ण और

अवच्छिन्न आत्माओं का योग होना कहा जाता है) जब हो जाता है तब उस की उपाधि अविद्या अपने (प्रतिबिम्ब आदि) कार्यों को भी साथ लेकर नष्ट होजाती है। तात्पर्य यह है कि अधिष्ठान का साक्षात्कार हो जाने पर आभास नष्ट हो जाता है।

(सूत्ररूप ब्रह्म से ही यह जगद्व्यवहार हो रहा है। दीखने वाला यह स्त्रीपुरुषभेद वास्तविक नहीं है)

दृश्यन्ते दारुनार्यो युगपदगणिताः स्तम्भसूत्रप्रयुक्ताः
संगीतं दर्शयन्त्यो व्यवहृतिमपरां लोकसिद्धां च सर्वाम्।
सर्वत्रानुप्रविष्टादभिनवविभवा द्यावदर्थानुबन्धात्-
तद्वत्सूत्रात्मसंज्ञा द्व्यवहरति जगद्भूर्भुवःस्वर्महोन्तम्॥५५

देखते हैं कि बहुत सी अचेतन कठपुतलियें स्तम्भसूत्र से प्रेरित होकर संगीत भी गाती हैं और भी लोकप्रसिद्ध सारे व्यवहार दिखाती हैं (कभी मल्लयुद्ध करती हैं , कभी शस्त्र पकड़ कर लड़ती हैं, कभी मृगया करने लगती हैं) ठीक इसी प्रकार सर्वत्र अनुप्रविष्ट हुए परमात्मा के अनुग्रह से—जिसे सूत्रात्मा भी कहते हैं, जिसका सामर्थ्य बड़ा ही अतर्क्य है, प्रयोजन के अनुसार ही जिसका अर्थों के साथ सम्बन्ध हुआ रहता है, जिसका प्रत्येक काम बड़े नियम से चल रहा है—यह भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक तथा महर्लोकपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् अपना अपना व्यवहार करने में समर्थ हो रहा है। फिर भले ही लोक में हाड मांस के बहुत से स्त्रीपुरुषदेह ही व्यवहार करते दीख पड़ते हों इन सब व्यवहारों का मूल कारण तो वह सूत्रात्मा ही है। बृहदारण्यक ३—७—२

ऋग्वेद में कहा है कि—स्त्रियः सती स्तां उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्नविचेतदन्धः कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेतयस्ता विजानात्स पितुः पितासत् । जिन को मायामोहित

लौकिक प्राणी, स्त्रियें समझते हैं ज्ञानी लोग उन्हीं को मुझे पुरुष बताते हैं। उनके वैसा बताने का कारण यह है कि यह आत्मा जिस जिस शरीर को धारण कर लेता है उसी उस नाम से कहाने लगता है। असल में न तो यह 'स्त्री' ही है और न यह 'पुरुष' ही है। ('त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी' 'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन तथोच्यते'। जीव में स्त्रीत्व अथवा पुंस्त्व कुछ भी नहीं है यह तो जैसे जैसे शरीरों को धारण कर लेता है उसी के अनुसार स्त्री अथवा पुरुष कहाने लगता है) परन्तु यह अत्यन्त निगूढ तात्त्विक अर्थ किसी ऐसे ही महापुरुष के ध्यान में आता है जिस का ज्ञानरूपी तृतीय नेत्र खुल चुका हो। चर्मचक्षुओं से ही किसी पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करने वाले अन्धे लोग इस महावार्ता को नहीं पहचान सकते, कभी नहीं पहचान सकते। जो कोई कवि (क्रान्तदर्शी) हो फिर चाहे वह थोड़ी अवस्था का बालक ही क्यों न हो, इस तत्व को पहचान जाता है 'कि यह आत्मतत्व किस प्रकार से स्त्री और पुरुष बना करता है' तो उसे अपने अज्ञानी पिता का भी पिता (अर्थात् पूजनीय) समझो।

(सच्चा सत्य यह आत्मा ही है दूसरे पदार्थ तो गौण सत्य हैं)

तत्सत्यं यत्त्रिकालेष्वनुपहतमदः प्राणदिग्व्योममुख्यं
यस्मिन् विश्रान्तमास्ते तदिह निगदितं ब्रह्म सत्यस्य सत्यम्।
नास्त्यन्यत्किं च यद्भूत्परमधिकमतो नाम सत्यस्य सत्यं
सच्चत्यच्चेति मूर्ताद्युपहितमवरं सत्यमस्यापि सत्यम् ॥५६॥

प्राण दिशा व्योम तथा कालादि जिनका त्रिकाल में भी कभी उपघात नहीं होता, जो सदा ही बने रहते हैं वे 'सत्य' कहाते हैं, परन्तु ये सब सत्य कहाने वाले पदार्थ भी जिस महातत्व में विश्राम लेरहे हैं, उस ब्रह्म को 'सत्य का भी सत्य' कहा गया है, अथवा जिस ब्रह्म की अपेक्षा

और कोई भी सत्य कहाने वाला उत्कृष्ट तत्व नहीं है इस से वह ब्रह्म ही 'सत्य का सत्य' कहाने के योग्य है। पृथिवी जल तथा तेज को सत् अर्थात् मूर्त कहा जाता है, वायु तथा आकाश को त्यत् अर्थात् अमूर्त कहते हैं। इन मूर्त तथा अमूर्त पदार्थों ने जिस का आश्रय ले रक्खा है, जो इन से उपहित हो रहा है, जिस को अवर (किंवा शबल ब्रह्म) भी कहा जाता है ब्रह्म तो इस (शबल ब्रह्म) का भी सत्य है (तात्पर्य यह है कि मुख्य सत्य पदार्थ ब्रह्म ही है औरों में आपेक्षिक सत्यता रहती है।)

(यह जगत् तभी तक सत्य प्रतीत होता है जब तक कि इसके सत्य [ब्रह्म] का परिज्ञान किसी को नहीं हो जाता)

यत्किञ्चिद्भात्यसत्यं व्यवहृतिविषये रौप्यसर्पाम्बुमुख्यं
तद्वै सत्याश्रयेणेत्ययमिह नियमः सावधिर्लोकसिद्धः।
तद्वत्सत्यस्य सत्ये जगदखिलमिदं ब्रह्मणि प्राविरासी-
न्मिथ्याभूतं प्रतीतं भवति खलु यतस्तच्च सत्यं वदन्ति ॥५७॥

लोक में व्यवहार करते समय (व्यवहार के पदार्थों में) जो कि शुक्तिरजत, रज्जुसर्प, अथवा मरुजलादि असत्य पदार्थ प्रतीत हो जाते हैं वे भी सत्य का आश्रय लेकर ही तो प्रतीत हुआ करते हैं। (इन भ्रमकल्पित रजतादि पदार्थों के अधिकरण शुक्ति आदि पदार्थ व्यावहारिक सत्य पदार्थ होते हैं। क्योंकि उन शुक्ति आदि आधारों के विना इनका भान नहीं हो सकता।) सत्य के आश्रय से असत्य की प्रतीति होने का एक सावधि नियम* लोक में देखा जाता है।

---

* इस नियम को सावधि अर्थात् अवधियुक्त कहने का तात्पर्य यह है कि इनके अधिष्ठान का ज्ञान होने पर तो इनका बाध हो जाता है, शुक्ति को पहचान लेने पर जब कि हमें यह ज्ञात हो जाता है कि यह रजत नहीं है तो उसके आश्रय से प्रतीत होनेवाले रजत की बाधा हो ही जाती है। यों प्रत्येक भ्रम की कोई न कोई अवधि होती ही है। इससे

ठीक इसी प्रकार व्यावहारिक सत्य पदार्थों का भी कोई न कोई सत्य होना ही चाहिये वही परब्रह्म है। उसी में यह व्यावहारिक जगत् (अज्ञान के कारण) उद्भूत हो गया है (क्योंकि इसके भान होने की भी एक नियमित अवधि पायी जाती है, ब्रह्मदर्शन हो जाने पर इसकी भी बाधा हो जाती है। उस समय यह जगत् भी प्रातिभासिक सिद्ध हो जाता है) अथवा सत्य का संक्षिप्त लक्षण यों समझ लो कि कोई भी मिथ्या पदार्थ जिसके आश्रय से प्रतीत हुआ करते हैं, वही परमार्थ सत्य कहाता है।

(ये आकाशादि तभी तक पूर्ण हैं जब तक कि कोई इन सब की अपेक्षा पूर्ण [ब्रह्म] का दर्शन नहीं कर लेता)

यत्राकाशावकाशः कलयति च कलामात्रतां यत्र कालो
यत्रैवाशावसानं बृहदिह हि विराट्पूर्वमर्वागिवास्ते।
सूत्रं यत्राविरासीन्महदपि महतस्तद्धि पूर्णाच्च पूर्णं
संपूर्णादर्णवादेरपि भवति यथा पूर्णमेकार्णवाम्भः ॥५८॥

जिनके महान् उदर में आकाश को भी रहने का स्वल्प सा अवकाश मिला हुआ है, जिनमें यह सम्पूर्ण काल अपने आप को एक कलामात्र (एक अत्यन्त छोटा भाग) ही पाता है (जहां पहुंच कर इस अनन्तकाल को यह पता चलता है कि मैं तो इसका एक अत्यन्त क्षुद्र सा भाग हूँ, जिनको देखकर काल का अपने अनन्तपने का वृथाभिमान छूट जाता है) ये अनन्त दिशायें भी जिसमें समाप्त हो जाती हैं, (अर्थात् ये अनन्त दिशायें जिनके एक देश में पड़ी हुई हैं) ऐसे महाकाय विराट् आदि ब्रह्म भी जिनके सामने छोटे से छोटे बन जाते हैं। महान् विराट् से भी महान् हिरण्यगर्भ नाम का सूत्रात्मा जिसमें से

यह कहा जा सकता है कि जब तक किसी असत्य पदार्थ की बाधा नहीं हो जाती तभी तक उस पदार्थ का भान हुआ करता है, जब तक उसका भान हो रहा है तभी तक उसे सत्य कहा जा सकता है।

उत्पन्न हो जाता है, ऐसा जो एक अन्तिम महान्, पूर्णों से भी पूर्ण तत्व इस संसार में निगूढ हो कर रह रहा है, उसी को यथार्थ ब्रह्मतत्व समझ लो। दृष्टान्त के रूप में यों समझो कि जिस प्रकार स्वरूप से परिपूर्ण दीखने वाले अनेक समुद्रों की अपेक्षा सात समुद्रों से मिलकर बने हुए एक समुद्र के जल को 'पूर्ण से भी पूर्ण' कहा जाता है, इसी प्रकार वह ब्रह्म 'पूर्ण से भी पूर्ण' है।

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" (पूर्ण दो प्रकार के होते हैं एक आपेक्षिक दूसरे स्वतः। जिनकी कोई अवधि होती है [जो किसी मर्यादा से बँधे होते हैं] वे आपेक्षिक पूर्ण कहाते हैं। जिस प्रकार तालाब से झील पूर्ण होती है। झील से समुद्र पूर्ण होता है। इसी प्रकार) यह मूर्त जगत् (पृथिवी, जल तथा अग्नि) पूर्ण (आपेक्षिक पूर्ण) है। इस मूर्त जगत् की अपेक्षा से यह अमूर्त जगत् (वायु तथा आकाश) पूर्ण है। एक पूर्ण से दूसरा पूर्ण अधिक है अर्थात् यह अमूर्त जगत् उस मूर्त जगत् से बहुत अधिक है। सब पूर्ण पदार्थों की केवल पूर्णता को ही लेकर (उनके शेष भाग को छोड़कर) लयचिन्तन के द्वारा उन सबका एकीभाव करने के पश्चात्, एक निरपेक्ष पूर्ण पदार्थ शेष रह जाता है। उसी को पूर्ण से भी पूर्ण अथवा स्वाभाविक पूर्ण पदार्थ कहते हैं।

(जिसकी सहायता से यह सब जगद्व्यवहार चल रहा है वह कोई सर्वान्तर आत्मा अवश्य है)

अन्तः सर्वौषधीनां पृथगमितरसैर्गन्धवीर्यैर्विपाकै-
रेकं पाथोदपाथः परिणमति यथा तद्वदेवान्तरात्मा।
नानाभूतस्वभावैर्वहति वसुमती येन विश्वं पयोदो
वर्षत्युच्चैर्हुताशः पचति दहति वा येन सर्वान्तरोऽसौ ॥५९॥

मेघ से बरसा हुआ एक ही जल जब सब औषधियों के उदर में

प्रवेश करता है तो वह अनन्त रसों, अनेक प्रकार के गन्धों, अद्भुत वीर्यों तथा अनन्तविपाकों के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार यह अन्तरात्मा भी नाना प्रकार के भूतों के स्वभावों को धारण कर लेता है। देखो यह वसुमती इसी के सहारे से इतना बोझ धारण कर रही है (परन्तु वसुमती को इसका पता नहीं है) यह मेघमाला इसी की प्रेरणा से विश्व को जलाप्लावित करके सस्यसम्पन्न कर रही है (परन्तु मेघों को यह सब ज्ञात नहीं है) यह अग्नि इसी के उपष्टम्भ से प्राणियों के अन्नों को पचाती तथा ईन्धनों को भस्मसात् किया करती है (परन्तु अग्नि को स्वयं यह कुछ भी ज्ञात नहीं है) यह सब इसी सर्वान्तर्यामी की (गुप्त) प्रेरणा से ही तो हो रहा है।

(आत्मतत्व एक ही है इस बात को न समझने से अनन्त वार मरना पड़ेगा)

भूतेष्वात्मानमात्मन्यनुगतमखिलं भूतजातं प्रपश्येत्
प्रायः पाथस्तरङ्गान्वयवदथ चिरं सर्वमात्मैव पश्येत्।
एकं ब्रह्माद्वितीयं श्रुतिशिरसि मतं* नेह नानास्ति किञ्च-
न्मृत्योराप्नोति मृत्युं स इह जगदिदं यस्तु नानेव पश्येत्॥६०॥

विवेकी दो प्रकार का अभ्यास करे—प्रथम तो सकल भूतों में एक ही आत्मतत्व के अखण्ड दर्शन करने का अभ्यास बढ़ाता रहे। दूसरे सम्पूर्ण भूतों को चिरकाल तक अपने एक ही आत्मा में देखते रहने का प्रयत्न किया करे। अपने मन को यों समझाया करे कि देख, यह संसार जल और तरंग के सम्बन्ध के समान है। एक जल में हजारों तरङ्ग हो जाते हैं तथा सब तरङ्गों में एक ही जल दीखा करता है (जल के अतिरिक्त और कुछ भी पदार्थ वहां प्रतीत नहीं होता।

---

* श्रुतिशिरसि मतं के स्थान पर श्रुतिभिरभिहितं ऐसा पाठ भी पाया जाता है।

इसी प्रकार एक आत्मा में नाना भूत हो जाते हैं तथा नाना भूतों में एक ही आत्मतत्त्व निवास कर रहा है। उस के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य पदार्थ यहां नहीं है। यों अपने भेददर्शी मन को थपक थपक कर सुला दिया करे) यों चिरकाल तक इस सब जगत् को आत्मरूप देखने के अभ्यास को शनैः शनैः बढ़ाता चला जाय (अभ्यास-क्रम के बढ़ते बढ़ते निर्विकल्प समाधि किंवा आत्मा की स्वाभाविक अवस्था का प्रादुर्भाव हो जायगा। इन्हीं सब युक्तियों के आधार पर वेदान्तों ने एक अद्वितीय ब्रह्म को ही सत्य पदार्थ बताया है। वे दृढता के साथ कहते हैं कि इस संसार में नाना नाम की तो कोई वस्तु ही नहीं है। फिर भी जो पामर प्राणी इस संसार में नानाभाव की तलाश करता (किंवा नाना भाव को ही सत्य मानता) है (उसे इस अज्ञान का यही दण्ड मिलता है कि) वह इस अज्ञान (देह में अहंभाव) के कारण बार बार मृत्यु के फन्दे में फँसता रहता है। (उस नानादर्शी को इस संसार से छुटकारा कभी नहीं मिलता। ईशावास्योपनिषद् मं० ६)

(जगत् के साथ खेल करता हुआ भी आत्मा अपनी सच्ची अवस्था से तिलमात्र भी टस से मस नहीं होता)

प्राक् पश्चादस्ति कुम्भाद्गगनमिदमिति प्रत्यये सत्यपीदं,
कुम्भोत्पत्तावुदेति प्रलयमुपगते नश्यतीत्यन्यदेशम्।
नीते कुम्भेन साकं व्रजति भजति वा तत्प्रमाणानुकारा-
दित्थं मिथ्याप्रतीतिः स्फुरति तनुभृतां विश्वतस्तद्वदात्मा॥६१

(उपर्युक्त बात को और अधिक स्पष्टरूप में यों समझें) यह तो सभी निश्चयपूर्वक जानते हैं कि कुम्भ के उत्पन्न होने से प्रथम तथा पश्चात् भी आकाश बना ही रहता है परन्तु फिर भी शरीरधारियों को ऐसे मिथ्या ज्ञान हो ही जाते हैं (जिससे वे समझते हैं) कि यह घटाकाश घट के उत्पन्न होने पर उत्पन्न हो जाता है, घट के नष्ट

हो जाने पर नष्ट हो जाता है, घट को कहीं अन्यत्र ले जाने पर भी यह उसके साथ अन्य देश को चला जाता है। यह आकाश छोटे बड़े घट की लम्बाई चौड़ाई के अनुरूप भी हो ही जाता है। ठीक इसी प्रकार विश्व के पदार्थों के कारण यह परात्मतत्त्व भी गतिशील सा—मरता जीता सा आता जाता सा—प्रतीत होने लगता है।

यह आत्मा इस संसार के उत्पन्न होने से प्रथम भी था, इसके नष्ट हो जाने पर भी ऐसा ही रहेगा, यह सब कुछ जान कर भी भ्रान्त लोग इस आत्मतत्त्व में शरीरों के आधार से स्थान आदि की भ्रान्त कल्पना कर ही बैठते हैं, वे कहने लगते हैं 'मैं यह हूँ और अब यहाँ पर हूँ' परन्तु यह सब उनकी भ्रान्ति ही है। आत्मतत्त्व एक अनन्त पदार्थ है। वह कभी शरीरों के बन्धन में आकर परिच्छिन्न होने वाला तत्त्व ही नहीं है।

(ब्रह्म सर्वरूप है यह सीधी सी बात यदि समझ न पड़ती हो तो यों समझो कि इस दृश्य जगत् के मर चुकने पर जो तत्त्व बच रहता है वही ब्रह्म [आत्मा] है)

यावान् पिण्डो गुडस्य स्फुरति मधुरिमैवास्ति सर्वोपि तावान्
यावान् कर्पूरपिण्डः परिणमति सदामोद एवात्र तावान्।
विश्वं यावद्विभाति द्रुमनगनगरारामचैत्याभिरामं,
तावच्चैतन्यमेकं प्रविकसति यतोन्ते तदात्मावशेषम्* ॥६२॥

जितना तुम्हें गुड का पिण्ड दीखता है वह सबका सब कोरी मधुरिमा ही तो है। मधुरिमा के सिवाय यह गुड और कुछ है ही क्या? जितना बड़ा तुम्हें यह कर्पूरखण्ड दीख रहा है यह उतना सबका सब आमोद ही तो है। उसे आमोद के अतिरिक्त और क्या कहोगे? ठीक इसी प्रकार यह जितना कुछ विश्व तुम्हें दिखाई दे रहा है, ये जो बड़े बड़े पेड़

---

* यतोन्ते तदात्मावशेषम् के स्थान पर तत्तदात्मावशेषम् पाठान्तर भी है।

पर्वत नगर बाग़ीचे तथा मन्दिर दीख पड़ते हैं, यह सब कुछ एक चैतन्य ही तो दीख रहा है। यदि यह बात सीधी तरह समझ में नहीं आती तो यों समझो कि जब ये सब महाकाल के गाल का ग्रास बन जायेंगे किंवा ज्ञानाग्नि का ईंधन हो जायेंगे तो बताओ उस समय क्या शेष रह जायगा ? (घड़े के फूट जाने पर जिस प्रकार मट्टी शेष रह जाती है इसी प्रकार) इस विश्व के अदृश्य हो जाने पर यह आत्मतत्त्व ही तो शेष रह जायगा। (बिना अन्वय का विनाश होता नहीं देखा जाता। इस नश्वर जगत् का जो अन्वय है उसी को तुम संक्षेप में ब्रह्म तत्त्व समझ लो।)

(जब वे किसी के हृदयमन्दिर में जाग उठते हैं तो बाह्य संज्ञा लुप्त हो जाती है)

वाद्यान्नादानुभूति र्यदपि तदपि सा नूनमाघातगम्या,
वाद्याघातध्वनीनां न पृथगनुभवः किंतु तत्साहचर्यात्।
मायोपादानमेतत् सहचरितमिव ब्रह्मणा भाति तद्वत्
तस्मिन् प्रत्यक्प्रतीते न किमपि विषयीभावमाप्नोति यस्मात् ६३

वाद्य से जो (वीर या शृंगार आदि से युक्त किंवा उच्चनीच) नाद का अनुभव होता है वह आघात होने पर ही होता है। सामान्य शब्द, वीररसादियुक्त आघात और उच्चनीच आदि ध्वनि इन सबका पृथक् (स्वतन्त्ररूप से) अनुभव तो किसी को हो ही नहीं सकता। किन्तु वह जब जब होता है तब तब सामान्य शब्द के साथ ही हुआ करता है। ठीक इसी प्रकार यद्यपि यह जगत् माया से उत्पन्न हुआ है फिर भी यह जब भी प्रतीत होता है तब ही ब्रह्म से सहचरित सा ही प्रतीत होता है (भाव यह है कि यह जगत् जब प्रतीत होता है तभी सत् चित् और आनन्द से हिलामिला सा प्रतीत हुआ करता है। इनसे अलग इस जगत् का अनुभव किसी को कभी होता ही नहीं। यों आत्मा सामान्यरूप से

सब में रह रहा है। उसमें विशेषभाव कल्पित है। विशेष सामान्य के अन्तर्भूत ही रहता है। सहचरित सा कहने का भाव यही है कि असल में सहचरित नहीं है। असल में तो वह ब्रह्म ही सब कुछ है। विशेष विशेष रूप धारण करके वही अनेक रूपों में दीख पड़ रहा है) सामान्य-भाव से सब में विराजने वाले उस ब्रह्मतत्त्व की प्रत्यक्प्रतीति जब किसी (बड़भागी) को हो जाती है तो फिर उसे यह सभी कुछ दृष्टिगोचर होना रुक जाता है। फिर तो उसे अखण्ड ब्रह्मतत्त्व के ही दर्शन होते रहते हैं (इसी से जगत् को ब्रह्म से सहचरित सा कहा था। असल में तो यह ब्रह्म ही था और अब फिर ब्रह्म ही रह गया है)।

वाद्य (दुन्दुभि आदि) से नादानुभव होता है और वह केवल ध्वन्यात्मक है, उसके पश्चात् उस नाद पर ध्यान देने से 'कौन रस अभिव्यक्त हो रहा है' यह प्रतीति होती है, उसके अनन्तर 'वह आघात उच्च स्वर में है या नीचे स्वर में है' यह ध्यान देने पर अनुभव होता है, जिस प्रकार इन का पार्थक्यानुभव कोटि कोटि प्रयत्न करने पर भी नहीं हो सकता इसी तरह माया का ब्रह्म से पृथक् अनुभव हो ही नहीं सकता। इस श्लोक का अर्थ समझने वालों को यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस प्रकार नाद आदि तीन प्रकार दृष्टान्त में हैं उस प्रकार दार्ष्टान्त में तीन प्रकार नहीं हैं। दार्ष्टान्त में तो केवल माया और ब्रह्म का सदा रहने वाला ऐकात्म्य ही विवक्षित है।

(यदि तुम्हें तुम्हारे सौभाग्य से ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान हो चुका है तो अब आप अपने ऊपर कृपा करके इसका अभ्यास कीजिये)

दृष्टः साक्षादिदानी मिह खलु जगतामीश्वरः संविदात्मा,
विज्ञातः स्थाणुरेको गगनवदभितः सर्वभूतान्तरात्मा।
दृष्टं ब्रह्मातिरिक्तं सकलमिदमसद्रूप माभासमात्रं,
शुद्धं ब्रह्माहमसीत्यविरतमधुनात्रैव तिष्ठेदनीहः ॥६४॥

(जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में उत्क्रान्ति आदि सम्पूर्ण गतियों में घटज्ञानादि सम्पूर्ण व्यवहारों में तथा भूतभविष्यदादि तीनों कालों में अनुगत रहने वाले) जगत् के एकमात्र प्रभु, संविदात्मा (ज्ञान) का साक्षात् दर्शन जब तुम्हें मिल चुका, सब भूतों में रहने वाले, गगन के समान सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, एक, कूटस्थ, अविचलित तत्त्व को जब तुम जान चुके, ब्रह्म से भिन्न इस सकल जगदाभास को जब तुम असद्रूप निश्चय कर चुके और तुम्हें यह निश्चय हो गया कि मैं ही शुद्ध-ब्रह्म हूँ तो बस अब तुम्हारा यह पवित्र कर्तव्य है कि निरीह होकर इसी वृत्ति में डट जाओ ।

इस वृत्ति को कभी भी खण्डित मत होने दो । ईहारूपी भेड़ियों को अपने मनोमन्दिर में कभी भी मत घुसने दो । नहीं तो ये तुम्हारे ब्रह्माकारवृत्तिरूपी शिशुओं को निर्दय होकर मार डालेंगे ।

(विज्ञानमयकोश के आधार से ब्रह्म का निरूपण यहाँ तक समाप्त हुआ)

(आनन्दमयकोश का स्वरूप)

इन्द्रेन्द्राण्योः प्रकामं सुरतसुखजुषोः स्याद्रतान्तः सुषुप्ति-
स्तस्यामानन्दसान्द्रं पदमतिगहनं यत्स आनन्दकोशः ।
तस्मिन्नो वेद किञ्चिन्निरतिशयसुखाभ्यन्तरे लीयमानो,
दुःखी स्याद्बोधितः सन्निति कुशलमति र्बोधयेन्नैव सुप्तम् ।।६५।।

(सुषुप्ति के समय आनन्दरूप ब्रह्म की स्वल्पसी अभिव्यक्ति सांसारिक लोगों को भी हो जाती है । ब्रह्म के स्वरूप को समझाने में उपयोगी होने से उस सुषुप्ति के स्वरूप का वर्णन अब किया जाता है) इन्द्र (दक्षिण अक्षि में रहने वाला पुरुष) तथा इन्द्राणी अर्थात् वाम नेत्र में रहने वाली अर्थभासक ज्योतिः (जो दोनों जाग्रत् काल में भ्रूमध्य में रहते हैं, सुपना देखते समय भ्रूमध्य में से उतरकर हृदयाकाश के पुरीतति

स्थान में बैठ जाते हैं) ये दोनों जब सुरतप्रसंग अथवा सांकल्पिक भोग करते हैं तो स्वप्नावस्था आ जाती है। परन्तु जब उन दोनों का वह सुरतप्रसंग समाप्त हो जाता है और सुख प्रकट होता है तो इसी अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं (लोक में देखते हैं कि सुरत के पश्चात् वीर्यपात हो चुकने पर ही सुख का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार स्वप्नावस्था के समाप्त होने पर जबकि सुरत की समाप्ति हो जाती है तो इन्द्र और इन्द्राणी को सुख का आविर्भाव होता है यही सुषुप्ति अवस्था कहाती है) उस अवस्था में जोकि एक आनन्दनिबिड पद है वही 'आनन्दमयकोश' कहाता है। जब जीव सुषुप्तिकाल के उस 'आनन्दमयकोश' में गया होता है तब वह जीव कुछ भी नहीं जानता। वह तो उस समय निरतिशय सुख (सर्वाधिक सुख किंवा परमानन्द) में डूबा होता है। (उस समय उसका अहंकार लुप्त हो जाता है)। उसकी परमानन्दता का अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण यह है कि सोये हुए पुरुष को जब हम बलात्कार से जगाते हैं तो वह दुखी होता है (भोजनादि कराने के लिये भी यदि उसे जगाया जाय तो भी वह खिन्न ही होता है। इससे यही सिद्ध हुआ कि विषयसुख की अपेक्षा उस आत्मसुख का दर्जा बहुत ही बड़ा है, जिस आत्मसुख को कि वह पुरुष सुषुप्ति में पड़ा हुआ भोग रहा है। इसीलिये श्रुति में कहा गया है कि) बुद्धिमान् को उचित है कि सोते हुए पुरुष का निद्राभंग कभी न करे।

(जो बहिर्मुख हैं वे शोक और मोह से कदापि नहीं छुट सकेंगे)

सर्वे नन्दन्ति जीवा अधिगतयशसा गृह्णता चक्षुरादी-
नन्तः सर्वोपकर्त्रा बहिरपि च सुषुप्तौ यथा तुल्यसंस्थाः।
एतेषां किल्बिषस्पृग्जठरभृतिकृते यो बहिर्वृत्तिरास्ते,
त्वक्चक्षुःश्रोत्रनासारसनवशमितो याति शोकं च मोहम् ॥६६॥

यश अर्थात् ब्रह्म का दर्शन पाकर सभी जीव प्रसन्न हो जाते हैं

(आत्मवार्ता किसी को भी सुनाओ उसी का चित्तद्रव हो जाता है, कण्ठ में गद्गदता आ जाती है, आँखों में आँसू भर आते हैं, आत्मगाथा सुन कर प्रायः सभी को रोमांच होता है, फिर वह चाहे ब्राह्मण हो क्षत्रिय हो, वैश्य हो, शूद्र हो, स्त्री हो या पुरुष हो, देव हो या राक्षस हो, क्योंकि वह उन सबकी अपनी ही तो गाथा होती है। भला बताओ कि अपनी प्रशंसा किसे अच्छी नहीं लगती) उस ब्रह्म ने अन्दर से इन्द्रियों को ग्रहण कर रक्खा है (उन्हें अपनी सत्ता देकर हरा भरा बना रक्खा है) वही ब्रह्म बाहर से भी विषयों का उपार्जन कराकर सब का उपकारी मित्र बन रहा है। उसकी कृपा से आत्मा को प्राप्त कर लेने में सभी जीव समान भाव (हैसियत) में खड़े हुए हैं (उसको प्राप्त करने में किसी जीव में किसी वर्ण या जाति के कारण कोई भी विशेषता नहीं आया करती) जैसे कि सुषुप्तिकाल के आ जाने पर (जबकि सब जीवों की अन्तःकरणवृत्ति आत्माकार बन जाती है) किसी भी जीव में सुख की न्यूनाधिकता नहीं रहती, इसी प्रकार आत्मप्रतीति भी सब जीवों में समान ही होती है। अब इन जीवों में से जो मूर्ख जीव मुफ्त में मिले हुए इस ब्रह्मानन्द को छोड़कर पेटपालन के लिये बाह्यवृत्ति ही बने रहते हैं (जो विषयराशियों का ही उपार्जन करते रहते हैं, पेट को ही जो परमपूजनीय देव समझ लेते हैं, शरीर ही जिनका आराध्य देवता हो जाता है) उन्हें बार बार दुःख ही दुःख भोगने पड़ते हैं। वे तो त्वचा चक्षु, श्रोत्र, नासिका और रसना के वश में आ आकर कभी शोक और कभी मोह को प्राप्त होते रहते हैं।

वे त्वचा के लिये कोमल कान्ताओं तथा सुन्दर शय्याओं का उपार्जन करते करते ही न मिलने पर शोक तथा मिल जाने पर उनके मोह में मर मिटते हैं। सुन्दर रूप पर पदे पदे जान देने को तत्पर रहते हैं और शोक मोह के दुर्दान्त संदंश (सन्डासी) से पकड़ लिये जाते हैं। सुन्दर शब्द के लिये प्राणान्त विपत्तियें उठाकर कमाये हुए धन

को पानी की तरह बहा देते हैं तथा उसके शोक मोह से उनका छुटकारा नहीं होता। सुन्दर सुगन्ध और स्वादिष्ट भोजन भी उनके लिये बड़े ग्राह हो जाते हैं। इन सुन्दर वस्तुओं के शोक मोहरूपी उलझे हुए जाल से उन्हें कभी मुक्ति ही नहीं मिलती। यही तो संसारी प्राणियों की संक्षिप्त जन्मगाथा है। सर्वे नन्दन्ति यशसा गतेन सभासाहेन सख्या सखायः। किल्बिषस्पृक् पितुषणि र्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय॥ (वेद) जब जीवों को यश नामक परमात्मा के दर्शन मिलते हैं (किंवा उन्हें किसी अध्यात्मदर्शी के मुख से अध्यात्मवार्ता सुनने का प्रसंग आ जाता है) तो (क्या पापी क्या पुण्यात्मा) सभी जीवों को परमानन्द का उद्रेक हो जाता है। (अध्यात्मदर्शी के मुख से अध्यात्मवार्ता सुनते सुनते सभी जीव पहरों तक खाना, पीना, सोना, उठना आदि भूल जाते हैं और निर्निमेष होकर अपनी निजकथा सुना करते हैं। जैसे कि नर, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणी सुषुप्ति के समय परमसुखी होते हैं इसी प्रकार आत्मवार्ता के श्रवण किंवा आत्मदर्शन से सभी को समानरूप से परम-सुख हुआ करता है) वह यशोरूप परमात्मा संसार से अलग नहीं रहता। वह सभासाह है अर्थात् वह विषयों को दिखाने वाली इन्द्रियों पर सदा ही आक्रमण किये रहता है (उन्हें मर्यादा में भी धारण किये रहता है) विषयभोगों का उपार्जन कराने में भी वह परम उपकारी मित्र का काम देता है (उसके अनुग्रह के विना विषयों का उपार्जन भी तो नहीं हो पाता) आत्मसुख भोगने में सब जीव सखा हो जाते हैं अर्थात् सुख का अनुभव सबको एक जैसा ही होता है। अब जो जीव केवल अपने उदरपोषण के लिये ही सकल प्रयत्न करते रहते हैं, उनको दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है। क्योंकि वे तो सदा (वाजिनाय अरंहितो भवति) इन्द्रियरूपी सर्पों को ही दूध पिलाते हैं (जोकि सदा विषवमन किंवा दुःखसर्जन ही करते रहते हैं)। (तात्पर्य यह है कि यद्यपि इन्द्रियों से कभी कभी क्षणिक सुख तो मिल जाता है परन्तु हम तो सदा रहने

वाले सुख को ही मुख्य सुख कर रहे हैं। वह परमसुख उस इन्द्रियाराम को कभी नहीं मिलता। इन्द्रियों से मिलने वाले क्षणिक सुख को तो हम दुःखों में ही गिनते हैं क्योंकि उनसे दुःखरूपी वालकों का ही जन्म होता रहता है।

(इन्द्रियों से मिलनेवाले, परिणाम में फीके हो जानेवाले, तुच्छ सुखों की अपेक्षा अतीन्द्रिय सुखों की महिमा बहुत ही ऊँची है)

जाग्रत्यामन्तरात्मा विषयसुखकृते नेकयत्नान् विधास्यन्
श्राम्यत्सर्वेन्द्रियौघोऽधिगतमपि सुखं विस्मरन्याति निद्राम्
विश्रामाय स्वरूपे त्वतितरसुलभं तेन चातीन्द्रियं हि
सौख्यं सर्वोत्तमं स्यात् परिणतिविरसादिन्द्रियोत्थात्सुखाच्च६७

(अतीन्द्रिय स्वरूपसुख की अपेक्षा लौकिक आनन्द कितने अधिक तुच्छ होते हैं उसे निम्न दृष्टान्त से अपने ही अनुभव से प्रत्येक को निश्चय कर लेना चाहिये) जागते हुए यह जीव विषयसुख के लिये बड़े बड़े दुर्दान्त परिश्रम किया करता है, (प्रणान्त विपत्तियें उठाया करता है, आग से जलते झौंपड़े में से अपनी विषयसामग्री को बाहर निकाल लाने के लिये घुस पड़ता है, पढ़ लिख कर दूर देशों का पर्यटन विषयोपार्जन के उद्देश से करने लगता हैं, बड़े बड़े दुःशील [बदमिज़ाज] स्वामियों को वश में करता है, कभी वीरधर्म से समराङ्गण में अपने प्राणों को खो बैठता है, कभी चोरी करता करता मारा जाता है, संक्षेप में यों ही समझ लो कि अपने अपने उद्यम के अनुसार प्रत्येक प्राणी विषयसुख के लिये प्रयत्न करते रहते हैं। वे विषयों की ही सर्वभावेन आराधना करते हैं। परन्तु) विषयार्जन के इस कठिन परिश्रम से जब उस की इन्द्रियां थक जाती हैं तो वह बिचारा दैववश मिले हुए स्त्री पुत्र धनादि विषयों और उन से मिलने वाले सुखों को भी एकदम भूल कर स्वरूप में विश्राम पाने के हेतु से निद्रा ले लेता है। (जिन को दैवदुर्विपाक से विषय नहीं

मिलता वे भी थक कर इसी आत्मदेव की शरण में प्रति दिन जाते और वहां विश्राम पाते हैं)। हम तो इस से इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि इन्द्रियों से मिलने वाले, परिणाम में नीरस हो जाने वाले, सुख से यह अतीन्द्रिय सुख ही उत्तम सुख है। फिर उसमें एक और कैसी अद्भुत विशेषता है कि यह आत्मसुख बहुत ही अधिक सुलभ है कि सुनने वाले को सहसा विश्वास तक नहीं होता।

विषयसुख के लिये जितना प्रयत्न करना पड़ता है, जितनी सामग्री की आवश्यकता होती है, जितना समय अपेक्षित होता है, उस का एक-शतांश भी तो हमें आत्मसुखोपार्जन में नहीं होता। यह आत्मसुख तो ध्यान करते ही छाया के समान साधक के सामने उपस्थित हो जाता है। इसके लिये किसी को कुछ भी करना नहीं होता। जिस प्रकार अन्न से भरे हुए घड़े को केवल अन्न से खाली ही करना पड़ता है, उसमें आकाश भरने के लिये किसी को प्रयत्न करना नहीं पड़ता, इसी प्रकार वृत्तिरूपी अन्न को इस मनरूपी घड़े में से निकाल कर फेंक दें, फिर देखें कि ब्रह्म किंवा आत्मा को उसमें भरने का कोई भी उद्योग करना नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि कुछ न करने से ही आत्मसुख का अविर्भाव हो जाता है। इस कारण से यह आत्मसुख बहुत ही थोड़े प्रयत्न से मिल सकता है। उधर विषयसुखों को तो देखो वे तो क्षण क्षण भर में गिरगट के रूप की तरह, रूप बदला करते हैं। कभी डरावने कभी सोम्य बनने का तो उन का जातिस्वभाव ही है। अन्त में जब डरावनी वृद्धावस्था आती है तो विषयों को भोगने वाली इन्द्रियों के अशक्त हो जाने पर ये विषयसुख वैसे भी सर्वथा विरस दीखने लगते हैं। ये परिणाम में अति ही दुःखदायी हैं।

(संसार के आनन्द तो सुषुप्ति के आनन्द का भी मुक़ाबला नहीं कर सकते, वे बड़े तुच्छ हैं, इस बात को समझने के लिये सुप्ति का विचार कर लो)।

पक्षावभ्यस्य पक्षी जनयति मरुतं तेन यात्युच्चदेशं
लब्ध्वा वायुं महान्तं श्रममपनयति स्वीयपक्षौ प्रसार्य।
दुःसंकल्पैः विकल्पैः विषयमनु कदर्थीकृतं चित्तमेतत्
खिन्नं विश्रामहेतोः स्वपिति चिरमहो हस्तपादान् प्रसार्य॥६८

जैसे कोई पक्षी अपने पंखों को हिला कर पहले तो वायु उत्पन्न करता है, फिर वह उस वायु के सहारे से ऊँचे आकाश में उड़ जाता है, वहाँ उसे द्रुतगामी वायु मिल जाती है, तब वह उस में अपने पंखों को फैला कर अपनी पहली थकावट को भी दूर कर लेता है । ठीक इसी प्रकार अपने दुष्ट संकल्पों तथा विकल्पों से विषयोपार्जन के लिये जब हमारा यह चित्त भ्रमिष्ठ हो जाता है और अन्त में अत्यन्त खिन्न हो जाता है, तब अपने हाथ पैर फैला कर विश्राम पाने के लिये चिरकाल तक सुषुप्तिसुख का अनुभव किया करता है ।

इस से यही सिद्ध होता है कि विषयसुख की अपेक्षा सुषुप्तिसुख किंवा आत्मसुख की महत्ता बहुत ही अधिक है (देखो बृहदारण्यक ४—३—१९) जिस का तात्पर्य यह है कि जैसे कोई श्येन अथवा गरुड ऊपर उड़ता उड़ता जब थक जाता है तो अपने पंखों को फैला कर विश्राम करने का उद्योग किया करता है। इसी प्रकार यह जीव जागरण काल की विषयार्जन की थकावट के कारण शान्ति की ओर दौड़ता है, शान्त होना चाहता है, तो सहसा ही अपने मूल में पहुँच जाता है। वहाँ सो कर जाग्रत् काल की किसी भी अभिलाषा को नहीं करता, न उस समय वह स्वप्न ही देखता है) ।

(विषयसुख सुप्तिसुख की समानता नहीं कर सकते, इस को समझने के लिये सुप्ति की मन लुभाने वाली अवस्था को विचारिये कि उस में कितना बड़ा आनन्द है ।)

आश्लिष्यात्मानमात्मा न किमपि सहसैवान्तरं वेद बाह्यं
यद्वत्कामी विदेशात्सदनमुपगतो गाढमाश्लिष्य कान्ताम्।

यात्यस्तं तत्र लोकव्यवहृतिरखिला पुण्यपापानुबन्धः
शोको मोहो भयं वा समविषममिदं न स्मरत्येव किञ्चित्॥६९॥

सुषुप्ति आने पर जब यह जीवात्मा अपने परमात्मा को सहसा आलिंगन कर लेता है तो सूक्ष्म देह से अनुभूत स्वप्न को तथा जाग्रत् में स्थूल देह से अनुभूत प्रसंगों को एकपदे भूल जाता है (उसे अन्दर बाहर का कुछ भी भान नहीं रहता। उस समय उसकी समस्त वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं) उसकी उस समय ऐसी दशा होती है जैसे कि चिरकाल में परदेश से आया हुआ कोई कामी कामातुर होकर बड़ी उत्कण्ठा से अपनी कान्ता का आलिंगन करते ही अन्दर बाहर के सब काम काजों को एकपदे भूल गया हो। (इसी प्रकार जाग्रत् तथा स्वप्न में विषयारण्यरूपी परदेश में गया हुआ यह जीव सुषुप्तिकाल में पाये हुए अपने परमात्मा को देखकर बड़ी उत्कण्ठा से उसमें लीन हो जाता है। उससे चिपट जाता है। तब उसे अन्दर बाहर का कुछ भी परिज्ञान नहीं रहता) उस सुषुप्ति में यह समस्त लोकव्यवहार, यह सब पुण्य पाप का बखेड़ा, शोक, मोह, भय आदि सभी कुछ अस्त हो जाता है। उस समय वह सम और विषम किसी को भी याद तक नहीं करता।

(मुक्तिसुख को समझना हो तो सुप्तिसुख को समझ लो। भेद केवल इतना है कि मुक्ति से लौटना नहीं होता, सुप्ति से तो लौट आता है।)

अल्पानल्पप्रपंचप्रलय उपरतिश्चेन्द्रियाणां सुखाप्ति-
र्जीवन्मुक्तौ सुषुप्तौ त्रितयमपि समं किन्तु तत्रास्ति भेदः।
प्राक्संस्कारात्प्रसुप्तः पुनरपि च परावृत्तिमेति प्रबुद्धो,
नश्यत्संस्कारजातो न स किल पुनरावर्तते यश्च मुक्तः॥७०॥

(१) अल्प और अनल्प अर्थात् सूक्ष्म और असूक्ष्म (किंवा वासना-मय और स्थूल) प्रपंच का आत्यन्तिक लय भी जीवन्मुक्ति और सुषुप्ति

दोनों में हो जाता है (२) इन्द्रियों का विलय भी दोनों अवस्थाओं में हुआ रहता है (३) तथा सुख की प्राप्ति भी दोनों अवस्थाओं में समान ही हो जाती है। यों ये तीनों बातें इन दोनों अवस्थाओं में समान हैं। किन्तु उन दोनों अवस्थाओं में एक बड़ा भारी भेद यही रहता है कि सुषुप्त पुरुष अपने पूर्व दिन के संस्काररूपी बन्धनों के द्वारा फिर भी संसाररूपी कारागृह में खेंच लिया जाता (किंवा लौट आता) है। किन्तु (जिस महानुभाव को ज्ञान के देवदुर्लभ दर्शन मिल चुके हों) निरन्तर मुक्त हो जाने के कारण जिसका संस्कारसमूह सर्वथा नष्ट हो चुका हो, वह फिर पहले के समान इस संसार में लौटकर नहीं आता।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि सुषुप्ति में सर्वप्रलय हो तो जाता है परन्तु वह दैनिक प्रलय होता है तथा उसका कोई कारण नहीं होता वह स्वभाव से सभी को हुआ करता है। इस कारण उसमें उससे प्रथम होने वाले जागरणकाल के संस्कार बीजरूप से बने ही रह जाते हैं। उन्हीं संस्काररूपी रस्सियों के बल से, कूप में से घड़े के समान (सुषुप्तिकाल में आत्मानन्द में डूबा हुआ भी) वह प्राणी फिर बलात् संसार में खेंच लिया जाता है। मुक्ति में तो ज्ञानाग्नि के योग से संस्काररूपी सम्पूर्ण तृणसमूह भस्म हो जाता है। यही कारण है कि फिर मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती। मुक्ति और सुषुप्ति में यही एक बड़ा भेद पाया जाता है।

(आत्मसुख के सर्वाधिक सुख होने का कारण)

आनन्दान् यश्च सर्वाननुभवति नृपः सर्वसंपत्समृद्ध-
स्तस्यानन्दः स एकः स खलु शतगुणः सन् प्रतिष्ठः पितॄणाम्।
आदेवब्रह्मलोकं शतशतगुणितास्ते यदन्तर्गताः स्यु-
र्ब्रह्मानन्दः स एकोऽस्त्यथ विषयसुखान्यस्य मात्रा भवन्ति।७१

(सम्पूर्ण सुखों की अपेक्षा आत्मसुख की महत्ता को इस प्रकार समझो

कि—जिस ग़रीब को केवल दो रोटी ही मिल सकती हैं उसे केवल भोजन का ही एक आनन्द आता है। उससे थोड़े अधिक धनी को स्त्रीसुख भी मिल गया तो यों समझो कि उसे दो आनन्द मिल गये। इसी क्रम से जिसको जितने अधिक विषय मिलते जाते हैं उसे उतने ही अधिक आनन्द मिलने लगते हैं) राजा लोगों को संसार के सभी विषय एक काल में ही प्राप्त हुए रहते हैं, इसी से सर्वसंपत्तियुक्त राजा लोग सब आनन्दों को भोगा करते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण विषयानन्द जहाँ इकट्ठे हो जायँ वहाँ राजा का एक आनन्द माना जाता है। इस आनन्द को यदि सौगुना कर दिया जाय तो वह पितरों का एक आनन्द कहाता है। यों इसी क्रम से देवलोक से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त आनन्दों की मात्रा सौ सौगुनी होती चली जाती है। वे सब आनन्द जिस आनन्द के अन्दर समा जाते हैं, जहाँ जाकर यह गणित समाप्त हो जाता है, जो आनन्द की परम काष्ठा किंवा अन्तिम सीमा है वही एक ब्रह्मानन्द कहाता है। पूर्व कहे हुए (ब्रह्मलोकपर्यन्त) सम्पूर्ण विषयसुख इसी ब्रह्मानन्द के तुच्छातितुच्छ अंश हैं। (जिस प्रकार उपाधियों के कारण एक अखण्ड आत्मा ही नाना क्षुद्ररूपों में प्रतीत होने लगा है, इसी प्रकार यह एक ही परमानन्द क्षुद्र विषयसुखों का रूप धारण करके जीवों की भ्रान्ति का कारण बन रहा है। आत्मबहिर्मुख सम्पूर्ण जीव परमानन्द की इन्हीं क्षुद्र मात्राओं पर धूल में लिपटे हुए गुड़ के कणों पर मक्खियों और चींटियों के समान चिपट रहे हैं (बृहदारण्यक ४–३–३३)

(वेद भी आत्मसुख को सर्वाधिक कहता है)

यत्रानन्दाश्च मोदाः प्रमुद इति मुदश्चासते सर्व एते,
यत्राप्ताः सर्वकामाः स्युरखिलविरमात् केवलीभाव आस्ते।
मां तत्रानन्दसान्द्रे कृधि चिरममृतं सोम पीयूषपूर्णां,
धारामिन्द्राय देहीत्यपि निगमगिरो भ्रूयुगान्तर्गताय ॥७२॥

(मनुष्य पितर तथा आजानदेवादि के) सभी आनन्द, सभी मोद, सभी प्रमुद और सभी मुद, जिस परमानन्द के अन्दर समा जाते हैं, जिस परमानन्द को पाने पर सत्यलोकादि को प्राप्त करने की सभी कामनायें पूरी हो जाती हैं, जिस परमानन्द के हाथ आ जाने पर इस समस्त स्थूल सूक्ष्म जगत् का प्रलय हो जाने से केवलीभाव (अथवा कैवल्यधाम) के दर्शन मिल जाते हैं, हे सोम! (किंवा चन्द्रमण्डल में निवास करने वाले हे ज्योतीरूप शिव! हे शोडषकलापूर्ण हिरण्यमय देव! जीवत्वरूपी भ्रम में फँसे हुए) मुझे भी अपने उसी घनानन्द में ले जाकर छोड़ दो, और अमर कर दो, तथा (संसारानल से झुलसने के डर से) भ्रूयुग के बीच में बैठे हुए इस मेरे जीव पर अमृतवृष्टि का सेचन करो (यह विचारा मेरा जीव तुम्हारी इस अमृतवृष्टि की आशा से भ्रूयुग [अर्थात् संकल्प विकल्पों के बीच] में ही अभी तक जैसे तैसे बैठा हुआ है अन्यथा विषयकर्दम में फँसकर यह विचारा कभी का मर गया होता।)

तात्पर्य यह है कि एक संकल्प के जाने तथा दूसरे के उदय होने से प्रथम जो एक क्षण भर निर्विषयावस्था किंवा निर्विकल्पावस्था रहती है, यही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। परन्तु विषयवासनाओं की मार अथवा संसारानल के सम्पर्क से यह विचारा संकल्पविकल्पों के बीच में दुबका और झुलसा हुआ पड़ा है। जब तुम अपनी अमृतवृष्टि इस पर करोगे किंवा अमृतमयी दृष्टि इसकी तरफ़ फेरोगे अर्थात् इस निःसंकल्पावस्था को चिरकालस्थायिनी बना लोगे तब यह अपनी स्वतन्त्र सत्ता को धारण करके इस जगत् का महाकल्याण कर सकेगा।

वेद में भी कहा है—"यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते कामस्य यत्राप्ता कामास्तत्र मामृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव" जिस परमानन्द के अन्दर आनन्द, मोद, मुद और प्रमुद (हँसी, खुशी, मौज और बहार क्रीडा और दिल्लगी) सभी कुछ समा जाते हैं, वासनारूपी इस मन की सारी इच्छायें जिसके पाते ही एकपदे पूरी हो जाती हैं,

हे आत्मदेव ! मुझे भी वहीं ले जाकर उसी परमानन्द के दर्शन कराकर अमरत्व को प्राप्त करा दो। (अनादिकाल से संसाराटवी का चक्कर लगाते लगाते अब मैं यह निर्णय कर चुका हूँ कि तुम्हारे सिवाय और कहीं आनन्द ही नहीं है। तुम्हीं सब जगह क्षुद्र विषयानन्दों के रूप में बँट रहे हो। अब तो मैं तुम्हें सम्पूर्ण को ही भोगना चाहता हूँ। अब इन विषयानन्दों से मेरी तृप्ति नहीं होती। दूसरों की गोद में चने डाल कर चाबने के समान विषयमुखेन तुम्हें भोगने को अब मैं तैयार नहीं हूँ। हे आत्मदेव ! कृपा करो) हे चन्द्रशीतल परमात्मन् ! सकल इन्द्रियों के नियन्ता इस मेरे जीव पर अमृत की वृष्टि कर दो (जिससे इसका अपने मर्त्यत्व का भारी भ्रम सदा के लिये दूर हो जाय)। अथवा योगशास्त्र के अनुसार जीवन्मुक्त लोगों के कपाल के चन्द्रमण्डल में से जबकि उन की कुण्डलिनी का जागरण होता है और सूर्यचन्द्रसंगम हो जाता है तब अमृतबिन्दु टपकने लगती है, उससे योगी को भूख प्यास लगनी बन्द हो जाती है। शरीर का जितना शोषण प्राण करते हैं उसे यह अमृतधारा दूर कर देती है। यह शोषण ही भूख प्यास कहाती है। इसी से जीवन्मुक्तों को भूख प्यास की उतनी बाधा नहीं रहती। उसी अमृतवृष्टि की प्रार्थना यहाँ की गई है ऐसा भी कोई मानते हैं वह भी अप्रासंगिक नहीं है।

(विषयानन्द भी मूल में ब्रह्मानन्द ही हैं। भेद केवल इतना ही रहा है कि मन में माया और आत्मा के दो भाग हैं। उनमें मायाभाग से दुःख और आत्मा के भाग से सुख होता है)

आत्माकम्पः सुखात्मा स्फुरति, तदपरा त्वन्यथैव स्फुरन्ती
स्थैर्यं वा चञ्चलत्वं मनसि परिणतिं याति तत्रत्यमस्मिन्।
चाञ्चल्यं दुःखहेतु र्मनस इदमहो यावदिष्टार्थलब्धि-
स्तस्यां यावत्स्थिरत्वं मनसि विषयजं स्यात्सुखं तावदेव ॥७३॥

(प्रश्न यह है कि परमानन्द तो एक अतीन्द्रियसुख है तथा विषय-सुख इन्द्रियों से मिलने वाला सुख होता है। यों अनुभव से ही इन दोनों सुखों में बड़ी विषमता दीख रही है। फिर यह क्योंकर मान लिया जाय कि सम्पूर्ण प्राणी इसी परमानन्द की मात्रा के सहारे से जीवन पा रहे हैं। इसका उत्तर इन दो श्लोकों से दिया जाता है)

आत्मा एक कम्पहीन पदार्थ है (वह अनादिकाल से आज तक कभी भी अपने रूप से विचलित नहीं हुआ। उसमें किसी प्रकार की हलचल आज तक उत्पन्न नहीं हो पायी है। सुपुप्ति के समय में) उसकी सुखरूपता को भी प्रत्येक प्राणी समझता है। यह तो हुई आत्मा की निश्चलसुखरूप अवस्था। इसके विपरीत माया किंवा विषयों की अवस्था को देखो। वह तो इससे सर्वथा विपरीत है। वह बड़ी ही चञ्चल और अत्यन्त दुःखरूपिणी है। (ये सब बातें सभी के नित्यानुभव में आती हैं)। अब मन की अवस्था पर विचार करो (यह बिचारा मन चिज्जडग्रन्थि है अर्थात् चैतन्य आत्मा और जड माया के योग से बना है। इन दोनों के एक जगह रहने से उलझकर ग्रन्थिरूप मन बन गया है) उस आत्मा की स्थिरता और माया की चंचलता ये दोनों ही गुण इसे दायभाग के रूप में मिले हैं। (इस बिचारे मन को जब तक इसका चाहा विषय नहीं मिल जाता, जब तक यह उस विषय के लिये सैकड़ों प्रयत्नों में फँसा रहता है) इसकी चञ्चलता (जो इसे इसकी मायारूपी माता से विरासत में मिली है) इसे दुःखी किया करती है। परन्तु उस विषय के मिल जाने पर आकुलता के बन्द होते ही कृतकृत्य हो जाने से जितनी देर भी मन में स्थिरता रह सकती है (जो इसे आत्मपिता से विरासत में मिली है) तभी तक विषयज सुख बना रह सकता है।

(विषय आकर मन को शान्त कर देते हैं। यथार्थ सुख मन के शान्त होने पर ही होता है। अब हमें यही विचारना है कि क्या यह

मन विषयों के विना भी किसी प्रकार शान्त हो सकता है ? संसार के इसी गुप्त रहस्य को प्रकट करने के लिये वेदान्तों का निर्माण हुआ है। वे कहते हैं कि विषय और आनन्द की तो आपस में व्याप्ति ही नहीं हैं। ठीक व्याप्ति तो यों हैं कि—(१) विषय का मिलना, (२) चित्त का अन्तर्मुख होना, (३) आनन्द आना। संसार के अविचारशील लोग विषय का मिलना और आनन्द का आना इन ही दो (पहली और तीसरी) बातों की व्याप्ति समझ बैठते हैं। परन्तु सच्ची व्याप्ति तो चित्त के अन्तर्मुख होने और आनन्द आने की ही है। अब कुछ मूर्ख लोग भ्रम में फँसकर आनन्द पाने के लिये कान्ता आदि विषयों की चाटुकारिता किया करते हैं। उन्हें कभी कभी उनके प्रारब्धकर्मानुसार क्षणिक आनन्द की प्राप्ति अथवा सुख की झांकी मिल भी जाती है। दूसरे विवेकी लोग तो जिनको आनन्द की सच्ची व्याप्ति का ज्ञान हो चुका है, योगविधि से चित्त को अन्तर्मुख करके आनन्द का पूर्णोपभोग लिया करते हैं। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि मूर्ख और विवेकी आत्माराम और विषयार्थी दोनों ही लोग एक ही आनन्द को भिन्न भिन्न भावों से भोग रहे हैं। परमानन्द और विषयानन्द में लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। भेद केवल इतना ही हो रहा है कि हाथी को आरसी के शीशे में देखने से जैसे वह छोटा दिखाई देता है इसी प्रकार विषयरूपी शीशे में देखने से यह महान् आत्मानन्द भी छोटा सा बन कर हमारे पास पहुँचता है। बस यही हमारी भ्रान्ति का कारण हो रहा है।

(सुखों का और मन की स्थिरता का बड़ा गम्भीर साहचर्य है यह दीख पड़ने वाली सुखों की न्यूनाधिकता तो मन की एकतानता की मात्रा पर निर्भर है)

यद्वत्सौख्यं रतान्ते निमिषमिह मनस्येकताने रसे स्यात्
स्थैर्यं यावत्सुषुप्तौ सुखमनतिशयं तावदेवाथ मुक्तौ।

नित्यानन्दः प्रशान्ते हृदि तदिह सुखस्थैर्ययोः साहचर्यं
नित्यानन्दस्य मात्रा विषयसुखमिदं युज्यते तेन वक्तुम् ॥७४॥

रमण के पश्चात् जबकि मन एकाग्र हो जाता है तब (मैथुन करने वालों को) एक क्षण भर (किंवा पलक मारन जितने समय तक) आनन्द आता है। सुषुप्ति में जब तक मन स्थिर बना रहता है उतनी ही देर तक वैसा ही निरतिशय सुख बना रहता है। मुक्ति में भी ठीक इसी प्रकार समझ लो। विशेषता केवल इतनी ही है कि वहाँ यह मन सदा के लिये शान्त हो जाता है। इसी कारण से उस समय एक नित्य आनन्द का ही आविर्भाव हो जाता है। यों मन की स्थिरता और सुख ये दोनों ही साथ साथ रहने वाले पदार्थ हैं। यही सब देखकर विषयसुखों को नित्यानन्द की मात्रा कहना बहुत ही ठीक है।

विषय तथा सुख का सहचारी भाव नहीं है। मन की स्थिरता होने पर ही सुख मिलता है। जिस विषय से जितनी देर मन स्थिर रह सके उससे उतने समय तक सुख मिला करता है। मैथुन से क्षण भर के लिये मन स्थिर होता है तो उससे क्षणभर ही आनन्द मिल जाता है। सुषुप्ति से दो चार पहर के लिये मन स्थिर हो जाता है तो उससे दो चार पहर आनन्द आ जाता है। मुक्ति होने पर तो हमारा मन सदा के लिये स्थिर हो जाता है इसी से उस समय हमें नित्यानन्द का आविर्भाव हो जाता है।

आनन्दमयकोश की सहायता से ब्रह्मानन्द का वर्णन समाप्त हुआ।

(अब जगत् के मिथ्याभाव का वर्णन किया जायगा)

(संसार के व्यापार से थककर जब यह आत्मा विश्राम करता है तब यही सुप्ति कहाती है)

श्रान्तं स्वान्तं सबाह्यव्यवहृतिभिरिदं ताः समाकृष्य सर्वा-
स्तत्तत्संस्कारयुक्तं ह्युपरमति परावृत्तमिच्छन्निदानम्।

स्वाप्नान् संस्कारजातप्रजनितविषयान् स्वाप्नदेहेऽनुभूतान्
प्रोज्झ्यान्तः प्रत्यगात्मप्रवणमिदमगाद्भूरि विश्राममस्मिन्॥७५

(अब स्वप्नदशा के दृष्टान्त से प्रपंच के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करना है इससे प्रथम स्वप्न के स्वरूप का ही विचार किया जाता है)। यह हमारा मन (स्त्रीपुत्रादि के पोषण आदि) बाह्य व्यापारों से थक कर, उन सब बाह्य व्यापारों को समेट कर, परन्तु उन बाह्य व्यापारों के (अनादि) संस्कारों को अपने साथ ही लेकर, अपने तथा जगत् के निदान आत्मा से मिलने की (वेगवती) उत्कण्ठा से, उन सब बाह्य व्यापारों से हट कर उपराम कर जाता है। (मानो कोई पान्थ बहुतसा देशाटन करके खिन्न होकर विश्राम करने के लिये अपने घर को लौट रहा हो) अनादिकाल के दृढसंस्कारों से युक्त ही वह मन स्वप्न के समय, स्मृति पर चढ़े हुए संस्कारों से उत्पन्न हुए, सूक्ष्मदेह में भोगे हुए, स्वाप्नभोगों को भी मार्ग में ही छोड़कर आत्मधाम को पाने की ही एक-मात्र उत्कण्ठा से सुषुप्ति के समय इसी आत्मधाम में पहुँचकर बहुत बड़ा विश्राम पा जाता है (जैसा कि इसको संसार के किसी भी विषय से नहीं मिल सकता)।

जिस प्रकार किसी राजाधिराज से मिलना चाहनेवाला कोई सामन्त राजद्वार पर खड़ी सेना को वहीं छोड़कर राजसभा के दो चार रत्नों के साथ राजमन्दिर में प्रवेश करता है। परन्तु राजा के खास महल में तो उन्हें भी द्वार पर ही छोड़कर राजा के सामने अकेला उपस्थित हुआ करता है। ठीक इसी प्रकार जाग्रत्काल की विषयसेना को इस स्थूल शरीररूपी राजमहल के इन्द्रियरूपी दरवाज़ों पर ही छोड़कर, फिर उन विषयों में जिनपर आत्मा का अधिक प्रेम हो, जो संस्काररूप से हृदय में भी घुस बैठे हों, उनके साथ राजमहलरूपी लिङ्गदेह में प्रवेश करता है और स्वप्न देखा करता है। परन्तु जब साक्षात् राजा के दर्शन

के समान आत्मदर्शन का प्रसंग आता है तब उन स्वाप्नभोगरूपी राज्यरत्नों को भी द्वार ही पर छोड़कर अकेला आप ही आत्मराज के समक्ष उपस्थित होता है और विषयारण्य में भटकते हुए विषयरूपी भेड़ियों के काटने आदि की असह्य पीडाओं से तत्क्षण ही मुक्त हो जाता है। इस से यह तात्पर्य निकलता है कि विषयपर्यटन करते करते जब हमारा मन खिन्न हो जाता है तब वह सुषुप्ति को ही चाहता है परन्तु मार्ग में दैववश स्वप्नावस्था उत्पन्न हो जाया करती है।

(स्वप्न विषय की एक बड़ी शंका)

स्वप्ने भोगः सुखादेर्भवति ननु कुतः साधने मूर्छमाने,
स्वाप्नं देहान्तरं तद्व्यवहृतिकुशलं नव्यमुत्पद्यते चेत्।
तत्सामग्र्या अभावात् कुत इदमुदितं तद्धि सांकल्पिकं चेत्
तत्किं स्वाप्ने रतान्ते वपुषि निपतिते दृश्यते शुक्रमोक्षः॥७६॥

भोगों का साधन यह स्थूल देह जब निश्चेष्ट होकर पड़ जाता है तब स्वप्नावस्था में सुख किंवा दुःख देनेवाले विषयोपभोग का साधन क्या होता है? यह एक प्रश्न है। यदि कहो कि स्वप्नव्यवहार करने में समर्थ कोई दूसरा नया ही स्वाप्न देह उत्पन्न हो जाता है उसीसे स्वप्नव्यवहार हो जायँगे तो बताओ कि स्वाप्न देह को उत्पन्न करनेवाली सामग्री ही वहाँ कहाँ रहती है? यदि स्वाप्नदेह को सांकल्पिक (असद्रूप) माना जाय किंवा उसे यह समझ लिया जाय कि भूतावेश के समान ही कोई शरीर उत्पन्न हो जाता होगा सो भी ठीक नहीं क्योंकि स्वप्नकाल की स्त्री से भोग करने के बाद जो वीर्यपात हो जाता है वह वीर्यपात इस निश्चेष्ट पड़े हुए स्थूल शरीर में क्योंकर देखा जाता है? इसका निगूढ कारण बताओ। स्वप्न के मिथ्या देह का वीर्यपात भी मिथ्या ही होना चाहिये था। परन्तु मैथुन को प्रकट करने वाले वीर्यपात को प्रातःकाल होने पर सत्य क्यों पाते हैं इसका कारण बताओ?

(स्वप्न की शंका का परिहार)

भीत्या रोदित्यनेन प्रवदति हसति श्लाघते नूनमस्मात्
स्वप्नेऽप्यङ्गेऽनुबन्धं त्यजति न सहसा मूर्छितेऽप्यन्तरात्मा ।
पूर्वं येयेऽनुभूता स्तनुयुवतिहयव्याघ्रदेशादयोर्था-
स्तत्संस्कारस्वरूपान् सृजति पुनरमून् श्रित्य संस्कारदेहम् ॥

(स्वप्नकाल में उत्पन्न चोर व्याघ्रादि के) भय से कभी कभी इस (स्थूलदेह) से ही रोने लगता है, कभी इस देह से बड़बड़ाने लगता है, कभी हँसने लगता है तथा कभी किसी विषय के मिलने पर अपने को कृतार्थ कहने लगता है। वह यह सब कुछ स्वप्नशरीर से नहीं करता। इन सब से यही निश्चित होता है कि यह अन्तरात्मा जब स्वप्न देखता है, तब चाहे इस का यह स्थूलदेह मूर्छित भी क्यों न हो गया हो, तो भी वह इस स्थूलदेह से अपना सम्बन्ध सर्वथा नहीं छोड़ देता और अनादि काल से चली आने वाली जाग्रदादि अवस्थाओं में जिन जिन शरीरों, जिन जिन अपनी पराई स्त्रियों, यात्रा के साधन जिन घोड़ों, भयकारक जिन व्याघ्रादिओं तथा जिन अनेक देशादि विषयों का अनुभव कर लिया है, उन सब के संस्कारों के अनुरूप ही, इस संस्कारदेह (लिङ्ग शरीर) के सहारे से फिर दुबारा उन शरीरादि विषयों को बना लेता है। लिङ्गदेह के वे संस्कार ही उद्बुद्ध होकर उन उन विषयों के रूप में बदल जाते हैं। वे विषय लगभग वैसे ही होते हैं जैसे कि जाग्रत् काल में देखे होते हैं। अर्थात् संस्काररूप में रक्खे हुए विषय ही दीखने लग पड़ते हैं। (तात्पर्य यह हुआ कि एक तो उस स्वप्न देखने वाले पुरुष ने स्थूल शरीर से अपना नाता सर्वथा नहीं तोड़ा है, दूसरे उस ने जो नये संकल्पित शरीर बना लिये हैं उन के संयोग से वीर्यपात का होना संभव हो गया है।) ॥७७॥

(उसी का स्पष्टीकरण)

सन्धौ जाग्रत्सुषुप्त्योरनुभवविदिता स्वाप्न्यवस्था द्वितीया
तत्रात्मज्योतिरास्ते पुरुष इह समाकृष्य सर्वेन्द्रियाणि ।
संवेश्य स्थूलदेहं समुचितशयने स्वीयभासान्तरात्मा
पश्यन्संस्काररूपानभिमतविषयान् याति कुत्रापि तद्वत् ॥७८॥

जाग्रत् तथा सुषुप्ति काल की सन्धि में एक तीसरी स्वप्नावस्था भी सब के अनुभव में आती है। इस अवस्था में वह स्वप्नदर्शी अपनी सकल इन्द्रियों को स्वरूप में लौटा लेता है (अर्थात् उस समय इन्द्रियां विषयाभिमुख नहीं रहतीं) और उस समय वह पुरुष 'आत्मज्योति' हुआ रहता है। (अर्थात् इन्द्रियों के न होने पर भी उस समय जो विषय का ग्रहण होता है वह आत्मरूप ज्योति से ही हुआ करता है) उस समय वह स्वप्नदर्शी अपने इस स्थूलदेह को जहां निद्रा आती है वहीं किसी विस्तर पर लिटाकर अपनी आत्मदीप्ति से (अपने सामर्थ्य से) स्वप्न के देह और संस्कारों के अनुरूप इन्द्रियों को बनाकर जहां तहां संस्काररूप से ही विचरण किया करता है।

(स्वप्न का विवरण)

रक्षन् प्राणैः कुलायं निजशयनगतं श्वासमात्रावशेषै-
र्माभूत्तत्प्रेतकल्पाकृतिकमिति पुनः सारमेयादिभक्ष्यम् ।
स्वप्ने स्वीयप्रभावात् सृजति हयरथान् निम्नगाः पल्वलानि
क्रीडास्थानान्यनेकान्यपि सुहृदबलापुत्रमित्रानुकारान् ॥७९॥

(पहले श्लोक में देह को छोड़कर चले जाने की बात कही है, उस समय यदि देह जीता है तो व्यापार क्यों नहीं करता ? यदि मर गया है तो श्वास क्यों लेता है ? इसका उत्तर इन दो श्लोकों से दिया है) जब संस्काररूप से जहां तहां विचरण करता है तब उस समय अपने बिस्तर पर पड़े हुए इस शरीर की रक्षा प्राणों के द्वारा किया करता है कि कहीं

यह शरीर मरा सा न हो जाय और मरे हुए की गन्ध लेने वाले कुत्ते आदि मांसाहारी जन्तु इसे सूँघ कर चीर फाड़कर न खा जायँ। उस समय प्राण के धर्म भूख प्यास आदि तो कुछ नहीं रहते किन्तु श्वास-मात्र के रूप में ही प्राण बने रहते हैं (प्रयोजक के न रहने से प्राण उस समय अन्य कोई भी व्यापार नहीं किया करते)। स्वप्न देखते समय अपने प्रभाव से घोड़े, रथ, नदी, तालाब तथा बहुत से क्रीडास्थान और स्त्री, पुत्र, मित्रादि के समान ही नये नये पदार्थ घड़ लिया करता है।

(स्वप्न का विवरण)

मातंगव्याघ्रदस्युद्विषदुरगकपीन् कुत्रचित् प्रेयसीभिः
क्रीडन्नास्ते हसन् वा विहरति कुहचिन्मृष्टमश्नाति चान्नम्।
म्लेच्छत्वं प्राप्तवानस्म्यहमिति कुहचिच्छङ्कितः स्वीयलोका-
दास्ते व्याघ्रादिभीत्या प्रचलति कुहचिद् रोदिति ग्रस्यमानः॥

इतना ही नहीं स्वप्न में वह हाथी, व्याघ्र, चोर, शत्रु, सर्प तथा वानरादि को भी बना लेता है, कहीं स्वप्न की कान्ताओं से क्रीडा और उपहास करता है, कभी कहीं विहार करने लगता है, कभी कहीं बढ़िया स्वादु भोजन खाता है। कभी कभी तो 'ओहो मैं ब्राह्मण होकर भी म्लेच्छ बन गया हूँ' इस विचार से अपने निजी मित्रों से बड़ा लज्जित सा हो जाता है। स्वप्न के व्याघ्रादि के डर से कभी तो खूब दौड़ने लगता है, परन्तु कभी तो दौड़ने की शक्ति के होने पर भी उन से पकड़ा जाकर रोया करता है। वृहदारण्यक ४–३–९–११ ॥८०॥

(जो जो पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे सब उस में के आत्मा को न पहचानने से ही उत्पन्न हो गये होते हैं इसलिये जाग्रत् काल के जगत् को दृष्टसृष्ट कहा जाता है)

यो यो दृग्गोचरोर्थो भवति स स तदा तद्गतात्मस्वरूपा-
विज्ञानोत्पद्यमानः स्फुरति ननु यथा शुक्तिकाज्ञानहेतुः।

रौप्याभासो मृषैव स्फुरति च किरणाज्ञानतोऽम्भो भुजङ्गो
रज्ज्वज्ञानान्निमेषं सुखभयकृदतो दृष्टसृष्टं किलेदम् ॥८१॥

जैसे शुक्ति के अज्ञान से रजताभास की उत्पत्ति हुआ करती है (जब हम शुक्ति के स्वरूप को समझ नहीं पाते तब वहां वृथा ही 'यह रजत है' ऐसी प्रतीति होने लगती है। तत्त्वदृष्टि से तो वहां शुक्ति ही होती है)। अथवा जैसे जब हमें सूर्यकिरणों का अज्ञान हो जाता है तब वहाँ वृथा ही मृगजल दिखाई दिया करता है (असल में वहाँ मृगजल नहीं होता वहाँ तो केवल सूर्यकिरणें ही होती हैं) अथवा जब हम रज्जु के स्वरूप को नहीं पहचान पाते तब रज्जु के स्वरूप के अज्ञान से वहाँ प्रातिभासिक सर्प की उत्पत्ति हो जाया करती है (तत्त्वदृष्टि से तो वहाँ रज्जु ही रहती है)। इन तीनों उदाहरणों के अनुसार जाग्रत् अवस्था में जो जो (पशु, पक्षी, स्त्री, पुत्रादि) पदार्थ दृग्गोचर हुआ करते हैं वे वे पदार्थ उस समय (जब हम उन पदार्थों को देखते हैं)• उन पदार्थों के अन्दर अन्तर्यामीरूप में रहने वाले आत्मस्वरूप को न पहचानने से ही प्रतीत हुआ करते हैं। (अर्थात् जब हमें आत्मस्वरूप का अज्ञान हो जाता है तब हमें पशु, पक्षी, स्त्री, पुत्रादि पदार्थ दीखा करते हैं। दीखने वाले पदार्थों की उत्पत्ति तभी हुआ करती है जब हमें उनके अधिकरणों का ज्ञान नहीं रहता। यदि हमें शुक्ति आदि अधिकरणों का ज्ञान बना रहे तो रजतादि पदार्थ कभी भी प्रतीत न हों। इसी प्रकार यदि हमें आत्मस्वरूप का ज्ञान बना रहे तो हमें स्त्री पुत्रादि पदार्थ प्रतीत ही कैसे हों ? इसीसे जीवन्मुक्तों को जगद्भान बन्द हो जाता है। वे तो सदा अधिष्ठान के दर्शन किया करते हैं। भाव यही है कि आत्मा का अज्ञान हो जाने पर पदार्थाकार दिखाई दिया करता है। इसी से सुषुप्तिकाल में जब हमारी अन्तःकरणवृत्ति सिमटकर आत्माकार हो गयी होती है तब फिर हमें किसी भी पदार्थ का भान नहीं होता।)

प्रातिभासिक रजत को देखकर लोभी को थोड़ा सा सुख हो जाता है, सांप को देखकर किसी भीरु को थोड़ा से भय हो लेता है। यों हम प्रातिभासिक पदार्थों में भी कार्य करने की थोड़ी सी शक्ति तो देखते ही हैं। इसी प्रकार जाग्रत् काल के दृष्टसृष्ट स्त्री पुत्रादि विषय भी क्षणिक सुखों या दुःखों को उत्पन्न कर दें तो इसमें आश्चर्य करने की बात ही क्या है ? इस सबसे यही सिद्ध होता है कि जगत् के ये सम्पूर्ण पदार्थ दृष्टसृष्ट हैं।

जितने समय हम इन्हें देखते रहते हैं वे प्रातिभासिक सर्प के समान इतने ही समय तक बने रहते हैं। देखना बन्द होते ही वे फिर नष्ट हो जाते हैं। इन पदार्थों के स्थायी दीखने का तो एक विशेष कारण यह है कि अनादिकाल के दृढ संस्कारों के कारण यह पदार्थरचना-चक्र इतनी तेज़ी से घूम रहा है कि हमें इनके निर्माण का ज्ञान ही नहीं होता। जैसे रात्रि में अधजली लकड़ी को घुमाने से एक गोलाकार तेज दीखा करता है। उस समय अधजली लकड़ी किसी को भी दीख नहीं पड़ती। परन्तु क्या वहाँ वास्तव में ही कोई गोलाकार वस्तु रहती है ? वहाँ तो घुमाने की तीव्रता से उस अर्धदग्ध काष्ठ का रूप छिप जाता है। इसी प्रकार इन पदार्थों की क्षणिक उत्पत्ति का पता दृढ संस्कारों के अनुबन्ध से किसी को ज्ञात नहीं हो पाता।

(इस जगत् को इन्द्रजाल के तुल्य समझना ही अधिक से अधिक ठीक है)

मायाध्यासाश्रयेण प्रविततमखिलं यन्मया तेन मत्स्था-
न्येतान्येतेषु नाहं यदपि हि रजतं भाति शुक्तौ न रौप्ये।
शुक्त्यंशस्तेन भूतान्यपि मयि न वसन्तीति विश्वग्विनेता,
प्राहासाद् दृश्यजातं सकलमपि मृषैवेन्द्रजालोपमेयम् ॥८२॥

मायारूपी अध्यास के आश्रय से मैंने ही क्योंकि यह सब नामरूपात्मक सम्पूर्ण जगत् विस्तारित कर रक्खा है केवल इस कारण से ही ये

सब भूत मेरे में स्थित मान लिये गये हैं। परन्तु मैं इनमें नहीं रहता हूँ (यदि पूछो कि कारण तो अपने कार्यों को व्याप्त करके रहा करता है फिर तुम कैसे कहते हो कि मैं इन भूतों में कभी नहीं रहता हूँ इस का उत्तर दृष्टान्त में सुनो) देख लो, शुक्ति में तो रजत प्रतीत हुआ करता है परन्तु उस रजत में उस शुक्ति का कोई सा भी अंश प्रतीत नहीं हुआ करता। इसी भाव को लेकर श्रीकृष्ण ने कहा था कि ये भूत मुझ में नहीं रहते हैं। इससे हम यह समझे हैं कि यह दीख पड़नेवाला समस्त संसार मिथ्या है। यह तो इन्द्रजाल के समान दीखने ही दीखने को है।

(यहाँ से कर्ममीमांसा प्रकरण का प्रारम्भ होता है)

(हमें जो इष्ट और अनिष्ट फल देखने पड़ जाते हैं उनका मूल कारण हमारे कर्म ही होते हैं)

हेतुः कर्मैव लोके सुखतदितरयो रेवमज्ञोऽविदित्वा,
मित्रं वा शत्रुरित्थं व्यवहरति मृषा, याज्ञवल्क्यार्तभागौ।
यत्कर्मैवोचतुः प्राग्जनकनृपगृहे चक्रतुस्तत्प्रशंसां,
वंशोत्तंसो यदूनामिति वदति न कोप्यत्र तिष्ठत्यकर्मा ॥८३॥

सब प्राणियों को भले बुरे फल देने वाला कर्म ही होता है (कर्म से ही सबको सुख और दुःख मिला करते हैं) परन्तु संसार के अविवेकी लोग इस तथ्य वार्ता को न समझकर वृथा ही किसी को मित्र और किसी को शत्रु मानकर व्यवहार किया करते हैं (उन्हें यह विचार नहीं होता कि जिन्हें हम मित्र समझते हैं वे हमारे सत्कर्मों का फल देने के लिये उतारे गये साधन हैं। तथा जिन्हें हम शत्रु समझते हैं, वे हमारे पापों का फल देने के लिये उतारे हुए प्राणी हैं। हमारे भले बुरे कर्म ही मित्र और शत्रुरूप में हमें सुख दुःख दिया करते हैं। ऐसी विवेचना प्राकृत लोग नहीं करते। वे अपने कर्मों को दोष न देकर वृथा ही शत्रु और मित्रों

को उलहना दिया करते हैं।) जनक राजा के घर पर याज्ञवल्क्य और आर्तभाग मुनि ने भी कर्मों की ही प्रशंसा की है।*

(इन जड कर्मों का प्रेरक तो अन्तरात्मा ही है)

वृक्षच्छेदे कुठारः प्रभवति यदपि प्राणिनोद्यस्तथापि
प्रायोन्नं तृप्तिहेतु स्तदपि निगदितं कारणं भोक्तृयत्नः।
प्राचीनं कर्म तद्वद्विषमसमफलप्राप्तिहेतु स्तथापि,
स्वातन्त्र्यं नश्वरेस्मिन्नहि खलु घटते प्रेरकोस्यान्तरात्मा॥८४॥

यद्यपि वृक्ष को काटने में कुल्हाड़ी समर्थ तो होती है, तो भी जब उसे कोई जीवित पुरुष चलाता है तभी वह वृक्षों को काट सकती है (स्वतन्त्ररूप से वृक्ष को काटने का सामर्थ्य उसमें नहीं है) अथवा जैसे अन्न से निश्चय ही तृप्ति हो जाती है परन्तु भोक्ताओं का पचन तथा भोजनक्रिया आदि व्यापार ही उसका कारण माना गया है (उसके

---

*बृहदारण्यक ६-२-१३। जब यह अनात्मदर्शी मरता है तब वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, चक्षु सूर्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथिवी में, आत्मा अर्थात् हृदय आकाश में, लोम औषधियों में, केश वनस्पतियों में, लोहित और वीर्य जलों में लीन हो जाते हैं। तब वह पुरुष किसके सहारे से रहता है? किससे वह फिर फिर दूसरे शरीरों को धारण कर लेता है? इसका उत्तर मीमांसक लोग स्वभाव, लौकायतिक लोग यदृच्छा, ज्योतिषी लोग काल, वैदिक लोग कर्म, देवताकाण्ड के लोग दैव, विज्ञानवादी विज्ञान तथा शून्यवादी शून्य में देते हैं। हे आर्तभाग! जल्प से इस निगूढ सत्य का निर्णय नहीं हो सकेगा। आओ हाथ पकड़कर बाहर चलें। हम दोनों ही इस प्रश्न का निरूपण करेंगे। जनसमुदाय में इसका निर्णय न हो सकेगा। उन दोनों ने क्रम से इन सब बातों पर विचार किया। सबके बाद उन्होंने यही निर्णय किया कि कर्म के आश्रय से ही यह जीव बार बार शरीरों को धारण किया करता है। उन्होंने कर्म की बड़ी प्रशंसा की है।

विना अन्न से तृप्ति कभी नहीं होती) ठीक इसी प्रकार यह तो ठीक है कि पूर्वजन्म के किये हुए कर्म ही ऊँच नीच फलों के कारण होते हैं परन्तु इस क्षणनश्वर (अकेले) कर्म में फल देने की स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। इन कर्मों का प्रेरक तो अन्तरात्मा ही होता है ।

तात्पर्य यह है कि किये हुए भले बुरे कर्म तो उसी समय नष्ट हो जाते हैं, धर्माधर्म रूप में उनके संस्कार आत्मा में रह जाते हैं। जब अन्तरात्मा उन्हें प्रेरणा करता है तब उनमें भोगानुकूलता आ जाती है और वे भोग देने को उद्यत हो जाते हैं। वह फलभोग ईश्वर से प्रेरित हुए कर्मों के साक्षी जीव को ही होता है, जोकि अज्ञान के कारण अपने आपको देहाभिमानी मान बैठा है ।

(अज्ञानी समझें या न समझें क्षुद्र से क्षुद्र कर्म भी ब्रह्मार्पण होते जाते हैं)

स्मृत्या लोकेषु वर्णाश्रमविहितमदो नित्यकाम्यादि कर्म
सर्वं ब्रह्मार्पणं स्यादिति निगमगिरः संगिरन्तेऽतिरम्यम् ।
यन्नासा-नेत्र-जिह्वा-कर-चरण-शिरः-श्रोत्रसंतर्पणेन
तुष्येदङ्गीव साक्षात्तरुरिव सकलो मूलसन्तर्पणेन ॥८५॥

निगम (वेद) ने बहुत ही ठीक कहा है कि वर्णाश्रम की मर्यादा के अनुसार स्मृतियों ने जिन नित्य तथा काम्य आदि* कर्मों का विधान किया है वे सभी कर्म ब्रह्मार्पण ही हो जाते हैं। कर्ता लोग किन्हीं फलों की आशा से किन्हीं अन्य देवताओं की आराधना के लिये जो कर्म

---

* (१) नित्य—जिनके न करने पर पाप होता है जैसे सन्ध्यावन्दनादि (२) काम्य—किन्हीं इच्छाओं से किये गये पुत्रेष्टि आदि (३) नैमित्तिक—जातकर्मसंस्कार आदि (४) प्रायश्चित्त—जिनसे पापों का क्षय हो जाता है (५) उपासना—देवताओं की आराधना (६) निषिद्ध कर्म—हिंसाव्यभिचारादि। नित्य कर्मों के करने से बुद्धि की शुद्धि होती है तथा उपासना से बुद्धि एकाग्र हो जाती है ।

करते हैं वे सब के सब स्वयं ही ब्रह्मार्पण हो जाते हैं (हाँ इतना अवश्य होता है कि कर्ता लोग उन उन वासनाओं से लिप्त हो जाते हैं। यदि पूछो कि दूसरे देवता के उद्देश्य से किये हुए कर्म ब्रह्मार्पण क्योंकर हो गये? तो उसका उत्तर सुनो) नासिका, नेत्र, जिह्वा, हाथ, पैर, सिर तथा कान को चन्दनादि लगाकर तृप्त करने से जिस प्रकार देही जीवात्मा तृप्त हो जाता है अथवा जैसे मूल को सींचने से सम्पूर्ण वृक्ष ही तृप्त हो जाता है, इसी प्रकार चाहे किसी भी देवता के उद्देश्य से कर्म किये जायँ वे सभी सकलदेवतारूपी परमेश्वर के चरणों में पहुँच ही जाते हैं।

(आत्मदर्शी और अनात्मदर्शी के कर्मों का भेद देख लीजिये)

यः प्रैत्यात्मानभिज्ञः श्रुतिविदपि तथा कर्मकृत् कर्मणोस्य
नाशः स्यादल्पभोगात् पुनरवतरणे दुःखभोगो महीयान्
आत्माभिज्ञस्य लिप्सोरपि भवति महाञ्शाश्वतः सिद्धिभोगो
ह्यात्मा तस्मादुपास्यः खलु तदधिगमे सर्वसौख्यान्यलिप्सोः ८६

(सकल जगत् के साक्षी सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र सूत्रधार ईश्वरात्मा को न पहचान कर जो कर्म किये जाते हैं पहले उनकी गति सुन लीजिये) जो वेदज्ञ भी हो तथा याग आदि शुभ कर्मों का करनेवाला भी हो परन्तु यदि वह आत्मा को नहीं पहचानता (और सदा बहिर्मुख ही रहता हुआ) इस संसार को छोड़कर चला जाता है, उसके कर्म उसे थोड़ा सा (स्वर्गादि) भोग देकर नष्ट हो जाते हैं*। उसको उस स्वर्गलोक से उतर कर इस मर्त्यलोक में आने में बड़ा भारी दुःख होता है। जो लोग तो आत्मदर्शी होकर विषयभोगों की लिप्सा में पड़ जाते हैं वे स्वर्गलोक से

---

*'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' वे अनात्मज्ञकर्मी लोग अपने पुण्यों के प्रताप से कमाये हुए विशाल स्वर्गलोक को भोगचुकने पर पुण्यराशि के समाप्त होते ही इस मर्त्यलोक में धकेल दिये जाते हैं।

बहुत अधिक काल तक अणिमादि आठों सिद्धियों को भोगा करते हैं। परन्तु जिस आत्मदर्शी महापुरुष को किसी प्रकार की लिप्सा ही नहीं रहती, उसको तो आत्मदर्शन होते ही सम्पूर्ण सुख मिल जाते हैं किंवा परमानन्द प्राप्त होजाता है। इसलिये दुनियाँ का ही बढ़िया सुख या अमर सुख किसी को पाना हो तो भी वह आत्मा की ही उपासना करे।

(आश्चर्यपूर्वक देखो कि सूर्य चन्द्र आदि बड़ी बड़ी ज्योतियाँ पदार्थों का प्रकाश करने में स्वतन्त्र नहीं है। वे हमारी दयापूर्ण सहायता की भिखारिन [मोहताज] हैं)

सूर्याद्यै रर्थभानं नहि भवति पुनः केवलैर्नात्र चित्रं,
सूर्यात्सूर्यप्रतीतिर्न भवति सहसा नापि चन्द्रस्य चन्द्रात्।
अग्ने रग्नेश्च किन्तु स्फुरति रविमुखं चक्षुषश्चित्प्रयुक्ता-
दात्मज्योतिस्ततोयं पुरुष इह महो देवतानां च चित्रम्॥८७॥

अकेले सूर्य चन्द्रादि से भी पदार्थों की प्रतीति नहीं हुआ करती, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है (सूर्यादि को स्वयंप्रकाश कहने की जो परिपाटी लोक में पड़ गयी है वह ठीक नहीं है। क्योंकि) यदि सूर्य से ही सूर्य की प्रतीत हो जाया करती अथवा चन्द्र से ही चन्द्र का भान हुआ करता किंवा दीपक और अग्नि से ही दीपक और अग्नि देख लिये जाया करते तो हम इन्हें निःशंक होकर स्वयंप्रकाश कह देते। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। हम देखते हैं सूर्य चन्द्र आदि प्रकाश इस चेतनात्मा से प्रेरित हुई इन आँखों से दीखते हैं। इससे यही निर्णय होता है कि इस सकलेन्द्रियव्यापार में रूपरसादि के प्रकाशक चक्षुरादि देवों का जो एक विचित्र तेज है वह यह आत्मज्योति किंवा स्वयंप्रकाश पुरुष ही है (जो जागरण तथा स्वप्न में समानरूप से स्वयंप्रकाश रहता है। उसे अपने प्रकाश के लिये दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं है)।

वेद में कहा है—चित्रं देवाना मुद्गादनीकं चक्षुर्मित्रस्य

वरुणस्याग्नेः । आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्त-स्थुषश्च । इस गतिशील तथा स्थावर दोनों प्रकार के जगत् का प्रकाशक यथार्थ में आत्मा ही है (सूर्यादि नहीं । वह ही इन सूर्यादि को भी प्रकाशित किया करता है)। (नेत्र के अधिदेवता) सूर्य का (रस के ग्राहक) वरुण का, तथा (वाणी की अधिदेवता) अग्नि का चक्षु (अर्थात् प्रकाशक) भी तो यह आत्मा ही है (क्योंकि आत्मप्रकाश के बिना सूर्यादि की प्रतीति किसी को नहीं होती। सभी को पहले अपने आत्मा की 'मैं हूँ' इस रूप में प्रतीति हो चुकती है तब उसे अन्य सूर्यादि पदार्थ प्रतीत हुआ करते हैं। तभी तो कहा है 'तमेव भान्त-मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। इसके प्रमाण के रूप में अपना अपना अनुभव ही प्रत्येक को देखना चाहिये) जागरण होते ही चक्षु आदि देवों की सेना में विचित्ररूप से एक अद्भुत ज्योति का संचार होता है। (तात्पर्य यह है कि ये लौकिक सूर्य चन्द्र तथा अग्नि आदि प्रकाश, रूप रस गन्ध स्पर्श तथा शब्द इन पांच विषयों में से केवल रूप को ही ग्रहण कर सकते हैं। पांचों विषयों को ग्रहण करने का सामर्थ्य इन में नहीं है। इन पाँचों को ग्रहण करने का सामर्थ्य तो इन सब वृत्तियों के प्रवर्तक आत्मा में ही है और किसी में नहीं) यों देह में बद्ध सा दीखता हुआ जो एक अध्यात्मस्वरूप परमात्मा नाम का तत्त्व है, उसी ने क्या द्युलोक, क्या पृथिवी लोक, क्या अन्तरिक्ष लोक, सभी को अपने आत्मतेज से परिपूर्ण कर रक्खा है। वह तेज सर्वात्मा होकर इस जगत् में निवास कर रहा है।

(प्राण अपान और व्यान वायु शरीर के अन्दर अपना अपना काम कर रहे हैं। आप कुछ भी नहीं करते हो। आप तो केवल एक भूल करते हो कि इनके कामों को अपना मान बैठते हो)

प्राणेनाम्भांसि भूयः पिबति पुनरसावन्नमश्नाति तत्र
तत्पाकं जाठरोग्नि स्तदुपहितबलो द्राक्छनैर्वा करोति ।

व्यानः सर्वाङ्गनाडीष्वथ नयति रसं प्राणसन्तर्पणार्थं-
निःसारं पूतिगन्धं त्यजति बहिरयं देहतोऽपानसंज्ञः ॥८८॥

देखते हैं कि यह जीव प्राण के सहारे से बार बार जल पीता और अन्न खाता है । उस प्राणरूपी पंखे ही से सुलगाया हुआ उदराग्नि प्राण के प्रयत्न के अनुसार ही जल्दी या शीघ्र उन पिये अथवा खाये पदार्थों को पचा देता है । पचनक्रिया के समाप्त हो जाने पर पके हुए अन्न तथा जल के सारभाग रस को, व्यान नाम का वायु, शरीरस्थ सम्पूर्ण प्राणों (इन्द्रियों) का संतर्पण करने के लिये, शरीर की सम्पूर्ण नाडियों में बाँट देता है । शरीर में रहने वाले अपानवायु का काम यह है कि वह शेष रहे हुए निःसार दुर्गन्धयुक्त अन्न और जल के भाग को (मूत्र तथा विष्ठा के रूप में) देह से बाहर निकाल देता है ।

(ऊपर के श्लोक में कहा हुआ प्राणादि व्यापार उनका स्वतन्त्र व्यापार नहीं हैं यह सब आत्मा [आप] के अधीन [मातहत] है)

व्यापारं देहसंस्थः प्रतिवपुरखिलं पञ्चवृत्त्यात्मकोसौ
प्राणः सर्वेन्द्रियाणामधिपतिरनिशं सत्तया निर्विवादम् ।
यस्येत्थं चिद्घनस्य स्फुटमिह कुरुते सोस्मि सर्वस्य साक्षी,
प्राणस्य प्राण एषोऽप्यखिलतनुभृतां चक्षुषश्चक्षुरेषः ॥८९॥

(जो प्राण अपान आदि गौणप्राणों को अपनी सत्ता और प्रकाश का दान देकर जीवित कर रहा है, उस साक्षी सच्चिदानन्द आत्मा की ओर ध्यान दो) इस हमारे देह में प्राणन आदि पाँच वृत्तियों वाला यह देहस्थ प्राण, जो कि सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिपति है (जिसके बिना सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार बन्द हो जाते हैं) ऐसा यह प्राण, सम्पूर्ण शरीरों में, बड़े ही स्पष्टरूप से, जिसकी सत्ता की सहायता से, निर्विवादरूप से अपने सम्पूर्ण व्यापारों को किया करता है, वह सबका साक्षी आत्मा मैं ही तो हूँ । मैं सम्पूर्ण व्यष्टि और समष्टि जीवों के प्राणों का भी प्राण

हूँ और चक्षुओं का भी चक्षु हूँ। प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः बृ० ४-४-१८।

(वह जब चमक उठता है तब संसार के सम्पूर्ण सूर्यादि पदार्थ टिम-टिमाने लगते हैं। अपना शामिल बाजा बजाने लगते हैं। इन क्षुद्र प्रकाशों में उसे प्रकाशित करने का सामर्थ्य नहीं है)

यं भान्तं चिद्घनैकं क्षितिजलपवनादित्यचन्द्रादयो ये
भासा तस्यैव चानु प्रविरलगतयो भान्ति तस्मिन् वसन्ति।
विद्युत्पुञ्जोऽग्निसङ्घोऽप्युडुगणविततिं भासयेत् कं परेशं,
ज्योतिःशान्तं ह्यनन्तं कविमजममरं शाश्वतं जन्मशून्यम्॥९०॥

पृथक् पृथक् स्वरूप तथा पृथक् पृथक् गति वाले ये पृथिवी, जल, वायु, आदित्य, चन्द्रमा तथा वागादि इन्द्रियें, उसी चैतन्यघन एक आत्मा के प्रकाश के पश्चात् प्रकाशित हुआ करते हैं और उसी स्वप्रकाश सदात्मा में निवास करते हैं (उसी की सत्ता को पाकर अपने अपने व्यापार करने में समर्थ हो गये हैं) फिर बताओ कि ऐसे उस सकल जगत् के कारण, प्रकृति के नियामक (जगत् की वासना से अस्पृष्ट होने के कारण) शान्त (नाश से सर्वथा रहित होने के कारण) अनन्त (वेदयोनि होने के कारण सर्वज्ञ) कवि, जन्म से रहित, मरण से वर्जित (जिसको जन्ममरणहीन माने बिना जन्ममरण की सिद्धि हो ही नहीं सकती। यदि कोई ऐसा जन्ममरणहीन तत्त्व न हो तो बताओ कि ये जन्म और मरण किसके हों) शाश्वत कहाने वाले, सर्वप्रकाशक आत्मदेव को क्या भला यह तुच्छ विद्युत्पुंज प्रकाशित करेगा? क्या यह क्षुद्र अग्नि की ज्वाला उस सर्वप्रकाशक को दिखा सकेगी? क्या इन टिमटिमाते हुए नक्षत्रों की पंक्ति किंवा सूर्यादि उस सर्वप्रकाशक को प्रकाशित करेंगे? (ओह! यह सब असम्भव है। ये असंभव बातें कभी नहीं हो सकेंगी।)

(वैसा दिव्य आत्मानुभव जब किसी को होता है तब अनादि उपाधि हट जाती है। वह जीवन्मुक्त हो जाता है और आनन्दधाम में सदा के लिये निवास कर लेता है)

तद्ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनुभव उदितो यस्य कस्यापि चेद्वै
पुंसः श्रीसद्गुरूणा मतुलितकरुणापूर्णपीयूषदृष्ट्या।
जीवन्मुक्तः स एव भ्रमविधुरमना निर्गतेऽनाद्युपाधौ,
नित्यानन्दैकधाम प्रविशति परमं नष्टसंदेहवृत्तिः ॥९१॥

जिस किसी भी पुरुष (किंवा स्त्री) के मन में अपने सद्गुरु की निरुपम दया से परिपूर्ण अमृतमयी दृष्टि अर्थात् ज्ञान (अर्थात् ब्रह्मविद्या नामक जागरण) के प्रभाव से यह महानिश्चयरूपी सूर्य उदय हो जाय कि (इस विषयपङ्किल संसार में 'मैं' 'मैं' करके मरनेवाला) मैं तो यथार्थ में वह अनन्त ब्रह्मतत्त्व ही हूँ, बस वही जीवन्मुक्त कहाता है। उसके मन में से विपरीतज्ञानरूपी चमगादड़ निकलकर भाग जाते हैं। उसके मन के संदेहरूपी उलूक सर्वथा उड़ जाते हैं (उसका वह मन प्रारब्धयात्रा तक जैसे तैसे इस प्रकार साथ देता रहता है जैसे अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से दग्ध हुआ अर्जुन का रथ श्रीकृष्ण के संकल्प से अर्जुन को रणक्षेत्र में से घर तक पहुँचाने में समर्थ हुआ था। वह महानिश्चयी पुरुष जीवन्मुक्ति के महासुख को भोगने लगता है। जिस प्रकार अर्जुन का रथ श्रीकृष्ण के उतरते ही सहसा भस्म हो गया था इसी प्रकार विराट् के प्रारब्धनामक संकल्प के समाप्त होते ही) वह जीवन्मुक्त पुरुष मायानामक अनादि उपाधि के विलीन हो जाने पर, नित्यानन्दस्वरूप अपूर्व तेज में प्रवेश कर जाता है।

(वे जीवन्मुक्त लोग अपने प्रारब्धों को भोगते हुए भी आत्मसुख का अनुभव करते रहते हैं)

नो देहो नेन्द्रियाणि क्षरमतिचपलं नो मनो नैव बुद्धिः
प्राणो नैवाहमस्मी त्यखिलजडमिदं वस्तुजातं कथं स्याम्।

नाहंकारो न दारा गृहसुतसुजनक्षेत्रवित्तादिदूरं,
साक्षी चित्प्रत्यगात्मा निखिलजगदधिष्ठानभूतः शिवोहम् ९२

जीवन्मुक्त लोग यह समझते हैं कि यह स्थूलशरीर मैं नहीं हूँ (वे समझते हैं कि मैं तो एक त्रिकालाबाधित चिद्रूप पदार्थ हूँ। इस विचार के आते ही उन्हें वर्णाश्रमादि का विचार भी भूल जाता है। वर्णाश्रमाभिमान के कारण उन पर शासन करने वाला शास्त्र उनके इस विचार के सामने कर्तव्यमूढ होकर खड़ा हो जाता है। वह समझ लेता है कि यह अब मेरा कहा न करेगा। मैं अब इस अध्यासहीन को [ब्राह्मण या क्षत्रिय या वैश्य या ब्रह्मचारी या गृहस्थ या वनी या संन्यासी आदि] क्या कहकर किसी काम में लगाऊँगा? यों शास्त्र का शासन जीवन्मुक्तों पर नहीं रहता) वे जीवन्मुक्त लोग यह सोचा करते हैं कि ज्ञान तथा कर्म के साधन ये दशों इन्द्रियें भी मैं नहीं हूँ। यह क्षर और अति चपल मन भी मैं नहीं हूँ। मैं यह क्षणिक बुद्धि भी कैसे बन बैठूँ? पाँच वृत्तियों वाला यह प्राण भी मैं नहीं हूँ। (जो मैं कूटस्थ आत्मा इन सम्पूर्ण देह इन्द्रिय आदि जड पदार्थों को प्रकाशित किया करता हूँ वह कूटस्थ सच्चिदानन्द) मैं इनमें से कोई सा या सब कुछ कैसे हो जाऊँ? मैं अपने आपको अहंकार भी कैसे मान लूँ? मैं तो स्त्री, पुत्र, सम्बन्धी, बान्धव, मित्र, भृत्य, घर, भूमि, धनैश्वर्यादि से दूर (पृथक्=अछूता) रहने वाला तत्त्व हूँ। तथ्य बात तो यह है कि मैं तो इन देहादि जड पदार्थों का साक्षी हूँ अर्थात् इन सबके अत्यन्त समीप रहकर इन्हें प्रकाशित किया करता हूँ। (इनको प्रकाशित करने के कारण ही) मुझे चित् अर्थात् ज्ञानरूप कहा जाता है (सर्वान्तर और स्वयंप्रकाश होने से तथा सबके अन्दर व्याप्त रहने से) मुझे प्रत्यगात्मा कहते हैं। जिसके विना समस्तजगदारोप का अधिष्ठान मायाशबल ब्रह्म भी सिद्ध नहीं हो सकते, इसीसे जिस मुझे ही इस सम्पूर्ण विश्व का मूलाधिष्ठान बताया जाता है, ऐसा एक शिवरूप तत्त्व मैं हूँ।

ऐसी विचारपरम्परा जब जीवन्मुक्त के हृदय में स्वभाव से उत्पन्न होने लगती है तब फिर उससे संसार के व्यापार नहीं चलते। उसे सांसारिक कारभार छोड़ने पड़ जाते हैं। फिर वह सदा ही आत्मस्वरूप का स्मरण करता रहता है।

(इन्द्रिय, मन, बुद्धि देखते भी हैं और दीखते भी हैं। परन्तु यह आत्मा तो देखता ही देखता है, दीखता नहीं)

दृश्यं यद्रूपमेतद्भवति च विशदं नीलपीताद्यनेकं,
सर्वस्यैतस्य दृग्वै स्फुरदनुभवतो लोचनं चैकरूपम्।
तद्दृश्यं मानसं दृक्, परिणतविषयाकारधीवृत्तयोऽपि
दृश्या, दृग्रूप एव प्रभुरिह स तथा दृश्यते नैव साक्षी ॥९३॥

यह जो संसार में नीले पीले आदि नानाविधि दृश्यरूप दीख रहे हैं इन सब अनेकविध रूपों को देखने वाली आँख, सबके प्रत्यक्ष अनुभव से अकेली (एक रूप की) ही होती है (अर्थात् द्रष्टा चक्षु एक है दीखने वाले दृश्यरूप अनेक हैं।) वह लोचन भी कभी दृश्य हो जाता है क्योंकि उसका भी द्रष्टा मन है। वह मन भी जब दृश्य हो जाता है तब निश्चयात्मिका बुद्धि उसकी द्रष्ट्री होती है। विषयाकार में परिणत हुई वे बुद्धिवृत्तियाँ भी अनेक तथा विकारी होने से दृश्य ही हैं (इन सभी को जड, और विकारी होने से अनात्मा जानना चाहिये) इस सम्पूर्ण जडमण्डल में जो एक प्रभु अर्थात् सब को प्रकाश करने के सामर्थ्य वाला है, जो इन समस्त जडवर्ग का साक्षी आत्मा है, वह तो सदा दृग्रूप ही रहता है। वह इन्द्रिय मन तथा बुद्धि के समान दृश्य कभी नहीं हो जाता। वह कभी किसी को दीखता नहीं।

सबका प्रकाशक होने से ही वह दृश्यों के समान अनुभव का विषय कभी नहीं होता है। वह सदा अपने द्रष्टा रूप में ही रहता है। यदि वह अनुभव का विषय हो जाय तो उसका साक्षीपन जाता रहेगा।

(रस्सी को न पहचानो तो उसका सांप बन जाता है। आत्मा को न पहचानो तो उसका जीव बन जाता है। रस्सी को पहचान जाओ तो साँप मर जाता है। आत्मा को पहचान जाओ तो जीवभाव मर जाता है)

रज्ज्वज्ञानाद्भुजङ्ग स्तदुपरि सहसा भाति मन्दान्धकारे,
स्वात्माज्ञानात्तथासौ भृशमसुखमभूदात्मनो जीवभावः।
आप्तोक्त्या हि भ्रमान्ते स च खलु विदिता रज्जुरेका तथाहं,
कूटस्थो नैव जीवो निजगुरुवचसा साक्षिभूतः शिवोहम्॥९४॥

जिस प्रकार मन्दे अँधेरे के समय अज्ञात रज्जु में (अकस्मात्, वृथा ही) सर्प की प्रतीति होने लगती है। ठीक इसी प्रकार जब किसी को स्वात्मा का अज्ञान हो गया हो (जब कोई अपने आत्मरूप को न देखता हो) तब उसी अज्ञात आत्मा में सब अज्ञानियों के अनुभव में आने वाला यह महादुःखदायी, आत्मसम्बन्धी जीवभाव प्रतीत होने लग पड़ता है। (परन्तु वह भी एक भ्रान्ति ही है) जब किसी प्रामाणिक पुरुष के कहने से किसी का सर्पभ्रम निवृत्त हो जाय तब वह पहला सर्प ही तत्त्वज्ञान होने पर एक जानी हुई रस्सी हो जाती है। ठीक इसी प्रकार अपने आत्मदर्शी गुरु के उपदेश से जब किसी का जीवत्वरूपी भ्रम निवृत्त हो जाता है तब उसे यह ज्ञात होता है कि—मैं जीव नहीं हूँ (मैं सुखी दुःखी होने वाला, जीने मरने वाला, कर्ता या भोक्ता कहाने वाला, कुछ भी नहीं हूँ) मैं तो यथाकथंचित् इस जीव का साक्षी कहा सकता हूँ। परन्तु मैं तत्त्वदृष्टि से तो एक कूटस्थ निर्विकार शिव किंवा आनन्दरूप ही हूँ।

(कहने को तो सूर्य आदि बहुतसी ज्योतियाँ संसार में हैं। परन्तु स्वतन्त्र ज्योति या मूल ज्योति तो आत्मा ही है)

किं ज्योतिस्ते वदस्वाहनि रविरिह मे चन्द्रदीपादि रात्रौ
स्यादेवं भानुदीपादिकपरिकलने किं तव ज्योतिरस्ति।

चक्षुस्तन्मीलने किं भवति च सुतरां धी र्धियः किं प्रकाशे,
तत्रैवाहं ततस्त्वं तदसि परमकं ज्योतिरस्मि प्रभोहम् ॥९५॥

हे मुमुक्षु ! बताओ तो सही कि तुम्हारे पास दिन में घटपटादि व्यवहार करने का साधन कौनसी ज्योति होती है ? यदि कहो कि सूर्य है तो यह बताओ कि रात्रि में जब सूर्य नहीं रहता तब व्यवहार का साधन कौनसी ज्योति रह जाती है ? यदि कहो कि उस समय चन्द्रमा तथा दीपादि ज्योतियाँ होती हैं तो यह बताओ कि सूर्य तथा दीपादि को तुम किस चीज़ से देखते हो ? यदि कहो कि चक्षु से तो यह बताओ कि आँख बन्द कर लेने पर तुम्हारे पास कौन सी ज्योति रह जाती है ? यदि कहो कि (आँख मींच लेने पर भी) बुद्धिरूपी ज्योति तब भी रहती ही है तो यह बताओ कि उस बुद्धिरूप ज्योति को प्रकाशित करने वाली कौनसी ज्योति तुम्हारे पास है ? इसका उत्तर मुमुक्षु ने यों दिया है कि श्रीगुरो ! उस समय तो उस बुद्धिरूप प्रकाश का व्यवहार कराने वाली ज्योति 'मैं' ही होता हूँ (वह बुद्धि मेरे ही सहारे से तो प्रकाशित होती है । मेरे सिवाय कोई दूसरा प्रकाशक इस समय मुझे नहीं प्रतीत होता। यह काम उस समय मैं स्वयं किया करता हूँ) इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर गुरु ने कहा कि हे शिष्य ! हमारे प्रश्नों से तुम अभीष्ट स्थान तक पहुँच गये हो तुम आत्मतत्त्व को पहचान गये हो, देखो ! तुम्हारे सिवाय कोई भी अन्य मूल प्रकाश इस संसार में नहीं है (तुम स्वयंज्योतिःस्वरूप होकर प्रकाशित हो रहे हो) इससे तुम यह निर्णय कर लो कि कार्यकारण तथा प्रकाश्य प्रकाशकत्वादि से असंपृक्त रहने वाली वह परमज्योति ही तुम हो (तुम अपने आपको कभी क्षुद्र प्राणी मत समझा करो। देखो सूर्य को आँख दिखाती है, आँख को बुद्धि दिखाती है, उस सकलभासक बुद्धि को भी प्रकाश का दान करने वाले तुम्हीं तो हो। यदि तुम इस संसार को प्रकाश का दान

करना बन्द कर दो तो यह संसार घनान्धकार से परिपूर्ण हो जाय और सहसा ही विलीन हो जाय। देखते नहीं हो कि तुम्हारे सोते ही यह संसार कैसा म्लान हो जाता है। तुम अपने इस महासामर्थ्य को ज़रा विचारो तो सही। यह कैसी निकृष्ट स्थिति है कि सकल जगत् को प्रकाशित करने वाले तुम अपने इस महामहिम रूप को भूलकर इन प्रकाश्य पदार्थों के वृथा मोह में पड़े हो) इन उद्बोधनों को सुनकर उस मुमुक्षु सच्छिष्य को सहसा आत्मस्मरण हो आया। वह अकस्मात् हर्षोत्फुल्ल होकर अपने सद्गुरु से कहने लगा कि हे प्रभो! मुझे अब ज्ञान होगया, कि इस संसाररूपी अन्धगृह का प्रदीप मैं ही तो हूँ। (मैं तो एक अखण्ड जलने वाला दीपक हूँ। मुझे किसी प्रकाश्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं है। आपके प्रश्नों ने मेरे अज्ञान की जड़ें ही उखाड़कर फेंक दी हैं। यही अभिप्राय बृहदारण्यक ४–३–६ में विस्तार से कहा गया है।)

(मुक्ति का नाम सुनकर घबराओ नहीं। मुक्ति बहुत सीधी वस्तु है इधर आत्मज्ञान हुआ कि उधर मुक्ति हुई)

कञ्चित्कालं स्थितः कौ पुनरिह भजते नैव देहादिसंघं,
यावत्प्रारब्धभोगं कथमपि ससुखं चेष्टतेऽसंगबुद्ध्या।
निर्द्वन्द्वो नित्यशुद्धो विगलितममताहंकृति र्नित्यतृप्तो,
ब्रह्मानन्दस्वरूपः स्थिरमतिरचलो निर्गताशेषमोहः ॥९६॥

उस जीवन्मुक्त महात्मा का अधिकारी देह (जिस देह के अनन्तर दूसरा देह नहीं मिलता, जिसके पश्चात् मुक्ति हो जाती है वह 'अधिकारी देह' कहाता है) जब तक बना रहता है तब तक कुछ काल के लिये वह महात्मा इस स्थूल शरीर के सहारे से इस पृथिवी पर ठहरा तो रहता है, परन्तु वह पहले के समान इस स्थूलदेहादि को मैं या मेरा नहीं मानता। फिर तो वह इस पृथिवी पर तथा इस देहादिसंघ के साथ प्रारब्धभोग की समाप्ति तक असंगबुद्धि की सहायता से न जाने किस तरह, बड़े

आनन्द से व्यापार करता हुआ प्रतीत होता है। उसे किसी सुखदुःखादि द्वन्द्व की बाधा नहीं रहती। वह सदा ही शुद्ध बना रहता है (संसारी जीव जिस प्रकार पुण्य करके कभी कभी शुद्ध हो जाते हैं वैसी कभी कभी होने वाली शुद्धि उस में नहीं होती। ब्रह्म से अभिन्न होते ही वह ज्ञानी तीनों कालों में पुण्य पाप से रहित होने से नित्यशुद्ध हो गया होता है।) उसकी पुत्रादि में ममता और शरीरादि में अहन्ता इस प्रकार नष्ट हो जाती है कि फिर कभी उत्पन्न ही नहीं हो पाती। उसकी ममता और अहन्ता का बीज नाश ही हो जाता है। इसी कारण से उस महात्मा को निर्बाध सन्तोष की प्राप्ति होती है। क्योंकि वह स्वयं ब्रह्मानन्दस्वरूप हो जाता है (वह फिर अपरिच्छिन्न [अखण्डित] आनन्द को ही अपना रूप मान लेता है) उसकी बुद्धि स्थिर ब्रह्म में निवास करने लगती है। स्वयं ब्रह्मरूप हो जाने से वह अचल हो जाता है। क्योंकि उसके समस्त विपरीत ज्ञान ही नहीं किन्तु उसका मूलाज्ञान भी समूल नष्ट हो जाता है।

ऐसे निरीह तथा पूर्ण लोग भी जब इस शरीर से चेष्टा करते हैं तो इसका कोई भी कारण समझ में नहीं आता। उनकी चेष्टाओं ने किस फल को उद्देश बनाया है, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। इसी से ज्ञानियों की चेष्टाओं को माया से उत्पन्न हुआ मानते हैं। जिस प्रकार जड चुम्बक को देखकर जड लोहा उसकी ओर को सरक जाता है, अथवा जिस प्रकार जड बीज, भूमि तथा जल को देखकर अंकुर निकाल देते हैं, सूखी पृथिवी जिस प्रकार पानी को निगल लेती है, चन्द्र-पाद का स्पर्श पाते ही जैसे कैरवकुल में विकास हो जाता है, ठीक इसी प्रकार ज्ञानी का शरीर, शरीर के उपयोगी आहारों किंवा भोगों की तरफ़ को प्रकृति की प्रेरणा से स्वतः ही प्रवृत्त हो जाता है। उसको उन प्रेरणाओं में इन चुम्बक आदि की तरह किसी प्रकार का अभिमान शेष नहीं रहता।

(अज्ञानी लोगों के कर्मों से उनके न चाहने पर भी आगामी संसार बन जाता है। ज्ञानी लोग कर्म तो कर जाते हैं परन्तु वे लोग ज्ञान की महिमा से आगामी संसार को बनने नहीं देते)

जीवात्मब्रह्मभेदं दलयति सहसा यत् प्रकाशैकरूपं,
विज्ञानं तच्च बुद्धौ समुदितमतुलं यस्य पुंसः पवित्रम्।
माया तेनैव तस्य क्षयमुपगमिता संसृतेः कारणं या,
नष्टा सा कार्यकर्त्री पुनरपि भविता नैव विज्ञानमात्रात्॥९७॥

वेदान्त के महावाक्यों को गुरुमुख के द्वारा श्रवण करके मनन करने पर जो प्रकाशस्वरूप आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, वह ज्ञान उत्पन्न होते ही जीवात्मा और परात्मा के काल्पनिक भेद को मूलाज्ञान के सहित सहसा मार डालता है। वैसा पवित्र ज्ञान जिस किसी अधिकारी के शुद्ध अन्तःकरण में उदय हो गया हो, तो उस पुरुष की संसार को उत्पन्न करने वाली माया अकेले उसी ज्ञान से नष्ट हो जाती है। (ज्ञान के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन उस माया के नाश के लिये अपेक्षित नहीं होता) आभासमात्र समझ लेने से ही अदृश्य हुई वह माया, फिर कभी भी भ्रमरूपी कार्य किंवा संसार को उत्पन्न नहीं कर सकती।

तात्पर्य यह है कि जब उस ज्ञानी ने उस माया को आभास समझ लिया तब फिर चाहे उसका शरीर चेष्टा भी करता रहे, उसकी कर्तृत्वाभिमानशून्य चेष्टाओं से, भुने हुए बीज से जैसे कोई अंकुर नहीं उगता इसी प्रकार आगामी संसार की उत्पत्ति कभी नहीं होती।

(ज्ञानी लोग, पानी पिये हुए निकम्मे नारियल की तरह दीख पड़ने वाले, इस निकम्मे संसार को दूर फेंककर मारते हैं। वे इसे निःसार समझकर शान्त खड़े हो जाते हैं)

विश्वं नेति प्रमाणाद्विगलितजगदाकारभानस्त्यजेद्वै,
पीत्वा यद्वत्फलाम्भ स्त्यजति च सुतरां तत्फलं सौरभाढ्यम्।

सम्यक् सच्चिद्घनैकामृतसुखकवलास्वादपूर्णो हृदासौ,
ज्ञात्वा निःसारमेवं जगदखिलमिदं स्वप्रभः शान्तचित्तः॥९८॥

('नेहनानास्ति किंचन' यहाँ नाना कहा सकने वाला सत्य तत्त्व कोई भी नहीं है इत्यादि) प्रमाणों से यह समझ लेने पर, कि—यह दीखने वाला संसार (इस रूप से) सत्य नहीं है, ज्ञानी लोगों का यह जगदाभास सदा के लिये विलीन हो जाता है (वे महात्मा लोग फिर इस जगत् को इस प्रकार छोड़ देते हैं, जिस प्रकार किसी नारियल आदि सुगन्धित फल के रस को पीकर कोई उसे फेंक देता हो (फिर चाहे वह दूसरे लोगों को कितना ही सुगन्धित क्यों न दीखता हो) वे फिर निर्विघ्न होकर जो एकमात्र चिद्घन (चैतन्य से परिपूर्ण) अमृतसुख है, उसी के ग्रासों का आस्वाद (अनुभव) ले लेकर, हृदय से पूर्ण किंवा नित्य तृप्त हो जाते हैं। (इस अमरसुख का भोग करते ही उनका दृष्टिकोण बदल जाता है) उन्हें यह समस्त संसार अतीव निःसार प्रतीत होने लगता है। वे इसको न तो सत्य ही समझते हैं और न उन्हें इसमें कुछ सुख ही दीख पड़ता है। ऐसा दिव्यानुभव होते ही वे फिर स्वयंप्रकाश ही हो जाते हैं। उनका चित्त शान्त हो जाता है। (भुने हुए बीज के समान जगदंकुर निकालने का सामर्थ्य उनके चित्त में फिर नहीं रह जाता।)

(उस परेश का दर्शन जब कोई कर लेता है तब किसी भी तरह के कर्म नहीं रहते। क्योंकि उसकी हृदय की गाँठ खुल जाती है। वह फिर अपने व्यापक रूप को क्षण भर के लिये भी नहीं भूलता। वह हमारी तरह हृदय में आबद्ध रहना भूल जाता है। इसी से जन्ममरण दिलाने वाले संशय टूक टूक हो जाते हैं)

क्षीयन्ते चास्य कर्माण्यपि खलु हृदयग्रन्थिरुद्भिद्यते वै
छिद्यन्ते संशया ये जनिमृतिफलदा दृष्टमात्रे परेशे।

तस्मिंश्चिन्मात्ररूपे गुणमलरहिते तत्त्वमस्यादिलक्ष्ये
कूटस्थे प्रत्यगात्मन्यखिलविधिमनोगोचरे ब्रह्मणीशे ॥९९॥

सम्पूर्ण वेदान्त बड़े गौरव से जिसका प्रतिपादन कर रहे हैं, जो चिन्मात्र स्वरूप है (जिसमें चेत्य पदार्थों का निशान भी नहीं रहा है) गुणों से उत्पन्न हुए, रागद्वेषादिमलों से अथवा बन्ध कराने वाले गुणरूपी मलों से, जो सर्वथा विहीन है, तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से जिसे केवल लक्षणावृत्ति से यथाकथंचित् जान सकते हैं (जिसका साक्षात् प्रतिपादन करते हुए तो वेद भी गूंगे की तरह मौन हो जाते हैं) जो एक अमर्याद ईश्वर है, सम्पूर्ण विधिवाक्य तथा सकल मन जिसको विषय नहीं कर सकते, जो सदा कूटस्थ (किंवा निर्विकार) बना रहता है (अपनी वृत्ति को अन्तर्मुख करने पर ज्योंही अज्ञान हटता है त्योंही जो स्वयं प्रकाशित हो जाता है, वृत्ति को अन्तर्मुख करने के अतिरिक्त और कुछ भी प्रयत्न जिसके दर्शन के लिये करना नहीं पड़ता, इसी से) जिसको प्रत्यगात्मा (मुखअन्दर होते ही दीख पड़ने वाला आत्मा) कहा जाता है, ऐसे उस परेश के अनुभव में आते ही इस बड़भागी जीव के संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण नाम के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि इस ज्ञानी की हृदयग्रन्थि (अर्थात् अन्तःकरण के प्रकाशक आत्मा की स्वरूपाज्ञानरूपी ग्रन्थि, जिसको अन्योन्यतादात्म्य तथा ऐक्याध्यास भी कहते हैं, जिसमें कि कर्म उलझे रहते हैं) सहसा खुल जाती है। (उसे अन्तःकरण तथा चिदात्मा के भेद का ज्ञान अनुभव के नेत्रों से हो जाता है। कोरे शास्त्रीय ज्ञान से किसी की हृदय की ग्रन्थि खुला नहीं करती) तब अज्ञानग्रन्थि से उत्पन्न हुए जन्ममरण दिलाने वाले सम्पूर्ण संशय (कि इस देह से आत्मा भिन्न है या नहीं ? भिन्न होने पर भी ब्रह्म के साथ अभेद है या नहीं ? अभेद होने पर भी जीवन्मुक्ति मिलेगी या नहीं ? जीवन्मुक्ति के पश्चात् विदेहमुक्ति का लाभ होगा या नहीं ?) नष्ट हो

जाते हैं। (संशय के निवृत्त होते ही ब्रह्मज्ञान का फल जन्ममरण की निवृत्ति के रूप में ज्ञानियों को प्राप्त हो जाता है।)

(असंगतारूपी तलवार से इस संसाररूपी वृक्ष को काटकर फेंक दो और जब तक संसार की वासनायें न हट जायँ तब तक वासुदेव का लगातार ही चिन्तन किया करो)

आदौ मध्ये तथान्ते जनिमृतिफलदं कर्ममूलं विशालं
ज्ञात्वा संसारवृक्षं भ्रममदमुदिताशोकतानेकपत्रम्।
कामक्रोधादिशाखं सुतपशुवनिताकन्यकापक्षिसंघं
छित्त्वाऽसंगासिनैनं पटुमतिरभितश्चिन्तयेद् वासुदेवम्॥१००॥

जन्म तथा मृत्यु नाम के केवल दो (महादुःखदायी) फलों को उत्पन्न करने वाले, कर्मरूपी जड़ों के सहारे से खड़े हुए तथा अपना पोषण पाते हुए, भ्रम, मद, हर्ष तथा शोक आदि अनेक पत्तों तथा काम, क्रोध आदि अनेक शाखाओं से लदे हुए, पुत्र, स्त्री, कन्या, हाथी, घोड़े, गाय, बैल आदि पक्षियों से घिरे हुए, [इस विशाल संसार वृक्ष के क्या तुम्हें ये दोनों फल पसन्द आ गये हैं? क्या इसके इन पत्तों और शाखाओं की दृष्टिविमोहिनी मूर्ति देखकर इसकी छाया में बैठने की भ्रान्त इच्छा तुम्हें उत्पन्न हो गयी है? क्या इस पेड़ पर बैठे हुए पक्षियों की सुन्दर मूर्ति देखकर तुम इन से किसी सुख की आशा बाँध बैठे हो? किंवा इन चञ्चल पक्षियों का तुम्हें कुछ विश्वास हो गया है? यदि नहीं तो] इस संसाररूपी विशाल वृक्ष को आदि मध्य तथा अन्त में पहचान लो (यदि इसे केवल मध्य में विचारोगे तो धोखे में फँस जाओगे। इस लिये इसे तीनों स्थानों पर पहचानो कि उत्पत्ति से प्रथम भी यह नहीं था, नाश के पश्चात् यह कुछ भी न रहेगा। केवल मध्य में कुछ काल के लिये स्वप्न के समान तुम्हें प्रतीत हो रहा है, ऐसा दृढानुभव करके) चतुरमतिवाले पुरुष को उचित है कि (अत्यन्त दुःखदायी होने से काटकर

फेंक देने योग्य) इस संसाररूपी वृक्ष को असंगतारूपी खड्ग की सहायता से (अर्थात् अपने आत्मा को इस संसार से पृथक् जानकर) काटकर फेंक दे तथा सदा ही अपने व्यापक आत्मा का अनुभव किया करे (जिसने कि इस समस्त संसारवृक्ष को आदि मध्य तथा अन्त में व्याप्त कर रक्खा है, जो इस संसार की उत्पत्ति से प्रथम भी था, जो इस संसार के नष्ट हो जाने के पश्चात् भी शेष रह जायगा, जो इसके मध्यकाल में भी वैसा ही अखण्ड बना हुआ है) यों सदा अपनी वृत्ति को आत्माकार बनाये रक्खे।

(ब्रह्मीभाव को पहचानने वाले अपने आत्मा को नमस्कार)

जातं मय्येव सर्वं पुनरपि मयि तत्संस्थितं चैव विश्वं
सर्वं मय्येव याति प्रविलयमिति तद् ब्रह्म चैवाहमस्मि।
यस्य स्मृत्या च यज्ञाद्यखिलशुभविधौ सुप्रयातीह कार्यं
न्यूनं सम्पूर्णतां वै तमहमतिमुदैवाच्युतं सन्नतोस्मि ॥१०॥

ओह ! यह जगत् तो मेरे इस शुद्ध रूप में से उत्पन्न हो गया है उत्पन्न हो जाने के पश्चात् भी यह मुझ में ही भले प्रकार स्थित हो रहा है। प्रलय होते समय यह मुझमें ही विलीन हो जाया करता है (निद्रा तथा प्रलय के समय इस जगत् का मुझ में सबीज प्रलय हो जाता है, ज्ञान हो जाने पर तो यह समस्त जगत् मुझ शुद्ध में निर्बीज विलीन हो जाता है) यों इस समस्त विश्व की उत्पत्ति स्थिति तथा प्रलय का एकमात्र आधार जो परब्रह्म नामक परम तत्त्व है वह मैं ही तो हूँ। जिस मुझ ब्रह्मात्मा को स्मरण कर लेने मात्र से यज्ञादि सम्पूर्ण शुभ कर्मों की न्यूनतायें पूर्ण हो जाती हैं, अब मैं अपने उसी अच्युत आत्मा को (जो कभी अपने स्वरूप और सामर्थ्य से च्युत नहीं होता) ब्रह्मानन्दवर्धिनी अखण्डब्रह्माकारवृत्ति के द्वारा बड़ी भारी प्रसन्नता के साथ केवल प्रणाम ही करता हूँ। (अपने आत्मदेव को ऐसा प्रणाम करना चाहिये कि फिर कभी भी अपने अहंकार के सिर को ऊपर न उठाने दिया जाय।)

श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत शतश्लोकी समाप्त

लेखक की निम्नलिखित अन्य पुस्तकें—

वोधसार—राजयोग का सांगोपांग वर्णन करने वाला, उपनिषदों में जहां तहां बिखरे हुए मार्मिक प्रसगों को अत्यन्त सरल रीति से, अत्यन्त सरल भाषा में, एकत्रित करनेवाला, 'नरहरि' स्वामी का अपूर्व ग्रन्थ मूल्य २।)

शतश्लोकी—आपके हाथ में है मूल्य ।≈)

वाक्यसुधा—मैं का मुख्य अर्थ क्या है इसको समझाते और उसमें समाधि करने की विधि बताते हुए मोक्ष तक का मार्ग दिखाने वाला ग्रन्थ

योगतारावली—राजयोग में कितना हठयोग आवश्यक है उसका विशद वर्णन करते हुए राजयोग के अनुकूल वातावरण का चित्र खींचकर दिखाने वाला ग्रन्थ

(दोनों का मूल्य) ।)

दशश्लोकी—हम जिसे 'मैं' अर्थात् आत्मा समझ रहे हैं वह कुछ भी आत्मा नहीं, यह दिखाते हुए 'मैं' के मुख्य अर्थ को अत्यन्त विशद भाषा में वर्णन करने वाला ग्रन्थ मूल्य ≈)

मिलने का पता:—

पं० कृष्णकुमार शर्म्मा

पो० रतनगढ़ जि० बिजनौर

इन पुस्तकों के मिलने के दूसरे पते इसके टाइटिल पर छपे हैं।

वाक्यसुधा और योगतारावली

रामावतार विद्याभास्कर

वाक्यसुधा

(भारतीतीर्थ)

और

योगतारावली

(शंकराचार्य)

भाषान्तरकार तथा व्याख्याकार

पं० रामावतार विद्याभास्कर

मिलने का पता—

कृष्णकुमार शर्मा

पो० रतनगढ़, जिला बिजनौर

पहलीवार] [मूल्य ।)

ओम्

उपहार का अभिनय

हे अच्युत! हे अनन्त! तुम्हें बार बार प्रणाम हो! जब तक पूरा पूरा प्रणाम न हो चुके तब तक तुम्हें लाखों बार प्रणाम हो। क्योंकि तुम अपने स्वरूप और सामर्थ्य से कभी च्युत होने वाले नहीं हो इसीलिये कुछ देने लेने से तुम्हारा कुछ भी घटता बढ़ता नहीं है। तुम अनादि काल से लेकर अनन्त काल तक के लिये उपवास किये बैठे हो। वैद्यों का बुभुक्षित पारद जिस प्रकार सोने को खा जाता है, फिर भी उसका भार नहीं बढ़ता है, इसी प्रकार अनादि काल से लेकर अब तक अपनी अनन्त वस्तुओं सहित अनन्त ब्रह्माण्डरूपी भात को तुम मौतरूपी दाल से लगा लगाकर डकार गये हो। वे सब तुम्हारी उददरी में न मालूम कहाँ समा गये हैं। यह धूर्त वर्तमान भी आप के विकराल जबाड़े के अन्दर कुचले जाने की तैयारी में व्यग्र हो रहा है, यह सुदूर भविष्य भी आपके पेट में समा जाने के लिये आतुर होकर चौकड़ी भरता चला आ रहा है, इतने पर भी तुम्हारा उपवास नहीं टूट पाया है, उन सब से तुम में किसी प्रकार की भी वृद्धि नहीं हो पायी है, नहीं हो रही है और आगे को होने वाली भी नही है। यों तुम अनन्त को इन सब भेंटों की कुछ भी आवश्यकता तो नहीं है फिर भी न मालूम कौन से लोभ में आकर तुम इस संसार का सभी कुछ—कोई दे या न दे—भेंटरूप में ले लेने को आतुर प्रतीत हो रहे हो। भेंट मिलने से तुम्हें कुछ भी लाभ नहीं होता है। इतना ही नहीं, देनेवालों को भी इन भेंटों से कुछ लाभ नहीं होता है। हम देनेवालों ने—जाने या वे जाने—जो अनन्त भेंटें आज तक दी हैं, उनसे हमें क्या कुछ लाभ हो पाया है? नहीं, नहीं, आज भी हम वैसे ही दीन हीन और रंक बने हुए हैं। फिर हम इस भेंट की

निरर्थक प्रथा को क्यों जारी रक्खें ? कोई भेंट दे या दे जब सब कुछ तुम ने भेंट ले ही लेना है फिर हम भेंट देने की सुघड़ भलाई ही तुमसे क्यों न ले लें ! यों भेंट देने और न देने के बीच में टँग कर तुम अनन्त से त्राटक हो जाने पर भेंट देनेवाला मर जाता है । तब केवल भेंट लेनेवाले तुम्हीं रह जाते हो । ओह ! कैसा कैवल्य है ! कितनी अनुपम शान्ति है ! कैसी धर्ममेघ की मूसलाधार वृष्टि हो रही है !

प्राक्कथन

यह वाक्यसुधा ग्रन्थ आद्य शंकराचार्य का समझा जाता है। परन्तु जिस ब्रह्मानन्दभारती की टीका का अवलम्ब पकड़ कर हमने यह भाषान्तर किया है उसके देखने से यह ग्रन्थ भारतीतीर्थमुनिकृत प्रतीत होता है। वे लिखते हैं कि—परमकृपानिधिः श्रीभारतीतीर्थगुरुः प्रकरण-प्रतिपाद्यमानमर्थं संक्षिप्य प्रथमश्लोकेन तावद्दर्शयति'—जिसका अर्थ यह है कि परमकृपानिधि श्रीभारतीतीर्थगुरु इस पुस्तक के विषय को संक्षिप्त करके पहले श्लोक से यों दिखाते हैं। इससे निश्चय होता है कि यह 'वाक्य-सुधा' ग्रन्थ भारतीतीर्थ मुनि का बनाया हुआ है। इनके किसी मठ का शंकराचार्य होने से किसी को ऐसा भ्रम हो गया प्रतीत होता है।

इस छोटे से आकार के ग्रन्थ में बताया गया है कि—संसार के सम्पूर्ण परिवर्तनों के अन्दर एक अपरिवर्तित वस्तु काम कर रही है। जो सत् है, चित् है और कोई ध्यान दे तो जो आनन्द भी है, जो इन सब परिवर्तनों को चुपचाप और एकटक बैठी देखा करती है, जो इन परिवर्तनों को कभी टोकती भी नहीं। क़िले के झरोखे में बैठे हुए गोलन्दाज़ की तरह जो सब को देखती है परन्तु इन चर्मचक्षुओं पर और परिणामशून्य झगड़ों में फँसे हुए मन पर भरोसा रखनेवाले कोई भी जिसे देख नहीं पाते। वही अदृश्य वस्तु ज्ञानेन्द्रियों के, कर्मेंद्रियों के और मन के व्यापार गुप्तरूप से चलवा रही है वही इस मांस के झोंपड़े में अहंभाव से बैठकर सुखदुःख, मानापमान और हानिलाभ का भ्रम-पूर्ण अभिनय न जाने क्यों कर रही है। दुनिया बदलती जा रही है पर उसने न बदलने की क़सम खा रक्खी है। वह न घटती है, न बढ़ती है; न मरती है न जीती है स्वयं अकेली बैठी ही बैठी दमकती रहती है। ये बुद्धि आदि उसी से थोड़ी सी चमक पाकर उछलने कूदने लगती हैं।

उस बुद्धि से थोड़ी सी उधारी चमक इस मुर्दे देह को भी मिल गयी है, तो यह मुर्दा भी चलने फिरने लग पड़ा है और उस मूल चमक को 'दूर हट' कह बैठा है। इस उधारी चमक ने ही दुनिया को चकाचौंध में डाल दिया है। यह चमक मूल में कहाँ से आयी है इसका थोड़ा भी ध्यान लोगों को नहीं है। इतना ही क्यों, लोगों को इतनी फुर्सत भी तो नहीं है कि वे इस अपरिणामी वस्तु को जानने का कष्ट तक उठायें। इस अपरिणामी तत्व को कैसे जानें ? उसके लिये क्या क्या उद्योग करें ? उससे हमें क्या कुछ मिलेगा ? इत्यादि सभी ज्ञातव्य प्रश्नों का उत्तर बड़ी सरलता से इस में संक्षेप से दिया गया है। इस को देखने से ज्ञात होगा कि जिस के मन में ये प्रश्न उठते हैं वही तो वह अपरिणामी पदार्थ है जिस ने इस समस्त जड संसार को अपनी चमक उधारी दे रक्खी है। उस उधार को वापिस लेने की विधि भी इस पुस्तक में दृष्टान्तपूर्वक देखने को मिलेगी। इसका 'वाक्यसुधा' नाम अन्वर्थ ही है इस के पढ़ने से अन्तःकरण में सुधापान के समान शान्ति विराजने लगती है। इस का दूसरा नाम 'दृग्दृश्यविवेक' भी है।

प्रातःस्मरणीय श्रीअच्युतमुनिजी की प्रेरणा से हमने यह भाषान्तर किया है। गोविन्द भवन, नागपुर निवासी श्री सेठ वृद्धिचन्द्रजी पोद्दार की आर्थिक सहायता से ही यह प्रकाशन हो सका है। इसके प्रूफ़ संशोधन में बन्धुवर श्री पं० रघुवीरजी शास्त्री ने तथा कठिन विषय के समझने में महाविद्यालय ज्वालापुर के मुख्याध्यापक विद्वद्वर श्री पं० हरिदत्तजी ने जो सहायता की है, उसका स्मरण भी हम कृतज्ञतापूर्वक करते हैं।

लिखने का स्थान—

श्रीअच्युतमुनिजी का
चलता फिरता आश्रम
गंगातीर

भाषान्तरकार—
रामावतार
विद्याभास्कर

ओम्

श्रीमद्भारतीतीर्थमुनिप्रणीता

वाक्यसुधा

'मैं' के शुद्ध अर्थ को बतानेवाला एक छोटा-सा निबन्ध

रूपं दृश्यं लोचनं दृक्, तद्दृश्यं दृक्तु मानसम्।
दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव, न तु दृश्यते ॥१॥

जब (नीला पीला आदि) रूप दीखते हैं, तब लोचन उन्हें देखता है। जब लोचन दीखता है, तब मन उसे देखा करता है। जब मन की वृत्तियाँ दीखा करती हैं, तब साक्षी प्रत्यागात्मा उनको देखा ही करता है। वह तो सदा देखता ही है वह कभी किसी को दीखता नहीं। (अर्थात् वह साक्षी सदा द्रष्टा ही रहता है दृश्य कभी नहीं होता)।

जब हम अपने नेत्रों से किन्हीं रूपादि पदार्थों को देखते हैं, तब वे रूपादि पदार्थ हमारे नेत्र के 'दृश्य' हो जाते हैं और तब नेत्र उन सब का 'द्रष्टा' हो जाता है। परन्तु वही नेत्र (जोकि अभी अभी रूपादि पदार्थों का द्रष्टा हो रहा था) मानसज्ञान की अवस्था में, मन का 'दृश्य' हो जाता है, और वह मन, उस नेत्र का द्रष्टा कहाने लगता है। उसके अनन्तर उसी मन की, (रूपादिविषयक) वृत्तियाँ तो 'दृश्य' हो जाती हैं, और साक्षी आत्मा उनका 'द्रष्टा' होजाता है। परन्तु ध्यान रक्खो कि वह तो सदा द्रष्टा ही रहता है, वह कभी किसी

का दृश्य नहीं होता, क्योंकि वह सदा स्वतः प्रकाश है । कभी दृश्य तथा कभी द्रष्टा बन जाना तो परतः प्रकाश्य जड पदार्थों का स्वभाव है । हमारा नेत्रेन्द्रिय मन की सहायता लेकर द्रष्टा हो जाता है, वह मन भी आत्मा के अनुग्रह से द्रष्टा बन लेता है, परन्तु नेत्रादि इन्द्रियों तथा मन से भी आन्तर जो आत्मा है उसको द्रष्टा होने में किसी की सहायता अपेक्षित नहीं है । इसलिए वह आत्मा सदा द्रष्टा ही द्रष्टा रहता है । वह कभी भी किसी का दृश्य नहीं होता। उस आत्मा को दृश्य श्रेणी में लाने का उद्योग सर्वथा निष्फल रहता है ।

नीलपीतस्थूलसूक्ष्मह्रस्वदीर्घादिभेदतः ।
नानाविधानि रूपाणि पश्येल्लोचन मेकधा ॥२॥

नीले, पीले, मोटे, पतले, छोटे, बड़े आदि नानाविध रूपों (आकारों) को जब यह आँख देखती है तब वह स्वयं एकरूप रह कर ही देखा करती है । सिद्धान्त यह निकला कि—द्रष्टा एकरूप रहता है, दृश्य तो अनेक रूपों को धारण कर लेते हैं ।

"अनेक रूप या अनेक आकार धारण करनेवाला 'दृश्य' कहाता है, तथा एक रूप रहनेवाला 'द्रष्टा' होता है ।" यह एक सर्वमान्य नियम है इसके अनुसार नानाविध रूपों (दृश्यों) को ग्रहण करनेवाले नेत्रेन्द्रिय में, इन नानाविध रूपों के अनुसार कोई भी भेद उत्पन्न नहीं होता । वह तो स्वयं एकरूप रहकर ही इन सब (नाना) रूपों को ग्रहण किया करता है । इस प्रकार नाना प्रकार के रूपादियों को ग्रहण करते समय भी स्वयं एकरूप रहने के कारण वह नेत्रेन्द्रिय द्रष्टा कहाता है ।

आन्ध्यमान्द्यपटुत्वेषु नेत्रधर्मेषु चैकधा ।
संकल्पयेन्मनः श्रोत्रत्वगादौ योज्यतामिदम् ॥३॥

यद्यपि नेत्रों के अन्धापन, मन्दता और तीक्ष्णता आदि अनेकों

धर्म हैं परन्तु मन तो एकरूप रहकर उन सबका संकल्प किया करता है (एकरूप रहने से ही उस मन को द्रष्टा कहते हैं) श्रोत्रत्वगादि इन्द्रियों में भी इसी रीति से द्रष्टा और दृश्य का विचार कर लेना चाहिये।

परन्तु जब वही नेत्रेन्द्रिय मन का दृश्य होजाता है, तब मन उस में अन्धापन, मन्दता और तीक्ष्णतादि अनेक धर्मों का संकल्प करने लगता है कि मेरी आँख अन्धी है या मन्दी है या तीक्ष्ण है इत्यादि, इस प्रकार वह नेत्रेन्द्रिय नाना होकर भास्य-दृश्य या ज्ञेय हो जाता है। उन नाना नेत्रेन्द्रियों को प्रकाशित करनेवाला मन, उनके अनुसार कभी भी परिवर्तित नहीं होता। इस दृष्टान्त के अनुसार श्रोत्र त्वक् जिह्वा तथा घ्राणादि इन्द्रियों में भी यही दृग्दृश्यभाव लागू कर लेना चाहिये। ये भी सब इन्द्रियाँ अपने अपने विषयों को प्रकाशित करते समय 'द्रष्टा' कहाती हैं, और अपना प्रकाश करनेवाले मन की अपेक्षा 'दृश्य' हो जाती हैं।

कामः संकल्पसंदेहौ श्रद्धाश्रद्धे धृतीतरे।
ह्री र्धीर्भी रित्येवमादीन् भासयत्येकधा चितिः ॥४॥

इसी प्रकार अन्तःकरण की काम, संकल्प, सन्देह, श्रद्धा अश्रद्धा, धैर्य्य, अधैर्य्य, लज्जा, बुद्धि तथा भयादि भिन्न भिन्न वृत्तियों को, वह सर्वसाक्षी चैतन्य स्वयं एकरूप रहकर ही प्रकाशित किया करता है।

वह चैतन्य स्वयं अपने दृश्य कहानेवाले कामादि विकारों के अनुरूप कभी नहीं हो जाता। किन्तु अविकृत एकरूप रहकर ही उन अनेकों को प्रकाशित किया करता है।

नोदेति नास्तमेत्येषा न वृद्धिं याति न क्षयम्।
स्वयं विभात्यथान्यानि भासयेत् साधनं विना ॥५॥

इस उपर्युक्त चैतन्य का न कभी उदय होता है, न कभी नाश

होता है, न वृद्धि होती है और न कभी क्षय ही होता है। किन्तु यह सदा ही स्वयं प्रकाशित होता रहता है। अपनी स्वयंप्रकाशता के पश्चात् अपने से भिन्न सकल पदार्थों को बिना ही किसी साधन के प्रकाशित किया करता है।

अनुभवी विद्वानों को प्रत्यक्ष दीख पड़नेवाले इस सर्वसाक्षी चैतन्य का न कभी उदय होता और न कभी नाश ही होता है, न कभी इसकी वृद्धि होती, और न कभी इसका क्षय ही होता है। वह चिति किसी अन्य साधन की सहायता के बिना, सब से प्रथम जब कि उसका अपना (सत् चित् आनन्दरूप) आत्मा प्रकाशित हो लेता है, तब उसके पश्चात् वह अपने से भिन्न सकल पदार्थों को प्रकाशित किया करती है। जाति गुण अथवा क्रिया आदिवाले सविकल्प ज्ञानों के उत्पन्न होने से प्रथम यह बात नियम से आवश्यक होती है कि वहाँ पर निर्विकल्प एक रस तथा समज्ञान पहले रहा हो। इस बात को दृष्टान्त से यों समझो कि तरंग या बुलबुले आदि के उदय होने से पूर्व समुद्र का एकरस तथा सम होना नियम से देखा जाता है। अपने प्रकाश में किसी भी अन्य प्रकाशक की अपेक्षा न करके स्वयं प्रकाश होने के कारण तथा अपने से भिन्न सकल पदार्थों का प्रकाशक होने के कारण 'मैं' इस ज्ञान का विषय यह चिति सम्पूर्ण भाव विकारों से रहित है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि यह चिति अन्तःकरण पर्यन्त सकल वाह्य पदार्थों से अत्यन्त विलक्षण है। द्रष्टृत्व ही इसका वास्तविक स्वरूप है। यह कभी भी किसी अन्य का दृश्य नहीं होती। यही भाव उपनिषद् में इस प्रकार दिखाया गया है—"अदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोत्रममतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ (बृ० ३-८-११) न दृष्टे र्द्रष्टारं पश्येन्नश्रुतेः श्रोतारं शृणुयान्नमते र्मन्तारं मन्वीथाः, न विज्ञाते र्विज्ञातारं विजानीयाः (बृ० ४-५-१५) वह किसी की भी दृष्टि का विषय नहीं है किन्तु स्वयं दृष्टिस्वरूप है। किसी के भी श्रोत्र का विषय नहीं है किन्तु स्वयं श्रुतिरूप है। मन का

अविषय है तथापि मति स्वरूप है। बुद्धि का अविषय है परन्तु विज्ञान स्वरूप है। अपनी नित्यदृष्टि से लौकिक दृष्टि को व्याप्त करनेवाले को कौन देख सकता है? अपनी नित्य श्रवणशक्ति से लौकिक श्रुति को व्याप्त करनेवाले को कौन श्रवण कर सकता है? अपनी नित्य मनन शक्ति से लौकिक मनोवृत्ति को व्याप्त करनेवाले को कौन मनन कर सकता है? अपने नित्य विज्ञाति स्वरूप से लौकिक बुद्धिवृत्ति को व्याप्त करनेवाले को कौन व्याप्त कर सकता है? तात्पर्य यह हुआ कि इस आत्मवस्तु का कुछ ऐसा ही विलक्षण स्वभाव है कि वह किसी का भी दृश्य नहीं होती। इसलिये आत्मा से भिन्न अन्तःकरणादि तो सदा दृश्य ही रहते हैं, अहम् (मैं) नाम के इस प्रत्यक्-चैतन्य का सच्चा स्वरूप तो द्रष्टृत्व ही है। वह प्रत्यक्-चैतन्य ही परब्रह्म है। यदि उस स्वतःसिद्ध द्रष्टा का भी अन्य द्रष्टा माना जायगा तो उसका भी अन्य द्रष्टा मानना होगा। इस प्रकार बराबर अन्य द्रष्टाओं की कल्पना करनी होगी, और यह द्रष्टृत्वकल्पना कभी भी विश्राम न पा सकेगी, और अन्त में अनवस्था दोष आजायगा। यदि इस अनवस्था दोष के परिहार के लिये चिति को ही चिति का द्रष्टा मानें, तो कर्मकर्तृविरोध उत्पन्न हो जायगा। क्योंकि कोई चतुर पुरुष भी अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता। इस प्रकार यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है कि दूसरे प्रकाश की सहायता न चाहने वाली स्वयंप्रकाश चिति, कभी भी किसी का दृश्य नहीं हो सकती।

चिच्छायावेशतो बुद्धौ भानं धीस्तु द्विधा स्थिता।
एकाहङ्कृति रन्या स्या दन्तःकरणरूपिणी ॥ ६ ॥

चैतन्य की छाया (प्रतिबिम्ब) का प्रवेश हो जाने से ही बुद्धि में भी ज्ञान होने लग पड़ा है। उस (बुद्धि) के अहंकार और अन्तःकरण नाम के दो भेद हैं।

अनेक प्रकार के परिणाम जिसमें हो सकें उस अन्तःकरण को इस

श्लोक में बुद्धि कहा है। उस बुद्धि में चैतन्य की छाया (प्रतिबिम्ब) के प्रवेश से ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वह यद्यपि स्वभाव से जड है तथापि (अग्नि की सन्निधि हो जाने पर दहकते हुए लोहे की तरह) अपने में प्रविष्ट हुए हुए चैतन्य का बल लेकर स्वयं प्रकाशमान सी मालूम होने लगती है। जब हम उस अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित हुए चैतन्य का अनिवर्चनीय सम्पर्क मान लेते हैं तो "जड अन्तःकरण द्रष्टा क्योंकर बना? उस जड का संसारबन्धन ही क्या हुआ? कूटस्थ साक्षी इस संसार में क्योंकर उलझ गया? यों जब अन्तःकरण और साक्षी दोनों ही संसार से बच गये तो निवर्त्य (हटाने योग्य) संसार ही कहाँ रहा? और उस संसार को हटाने वाला ज्ञान भी निरर्थक क्यों न हुआ? उस ज्ञान को बताने वाले वेदान्त भी निकम्मे क्यों न हो गये? और फिर ऐसे सकलविशेष-शून्य साक्षी तत्व को वेदान्तों ने क्योंकर समझाया? और वह तत्व साक्षी या असंग ही क्योंकर मान लिया गया" इत्यादि अनेक दोषों का परिहार स्वयमेव हो जाता है। साक्षी चिति, चैतन्य, ज्ञान, बोध, प्रत्यगात्मा तथा कूटस्थ आदि अनेक नामों से व्यवहार में आनेवाले, उसी साक्षी की सन्निधि से, नाना प्रकार की चेष्टायें करनेवाली, उस बुद्धि के जिस अंश में कर्तृस्वरूपा वृत्ति का उदय हो, वह तो 'अहंकृति' कहाती है। तथा जिसमें अहमिदमात्मक ('मैं' 'यह' इस प्रकार की) वृत्ति का उदय हो, वह 'अन्तःकरण' कहाती हैं। श्रोत्र आदि करणों की अपेक्षा आन्तर होने से उसे अन्तःकरण कहा जाता है। क्रमानुसार 'कर्त्ता' और 'मन' भी इन दोनों के ही दूसरे नाम हैं।

छायाहंकारयो रैक्यं तप्तायःपिण्डवन्मतम् ।
तदहंकारतादात्म्या देहश्चेतनता मगात् ॥७॥

छाया (प्रतिबिम्ब) और अहंकार की, अग्नि में तपे हुए लोह पिण्ड की तरह से एकता मानी गई है। वैसे अहंकार के साथ अन्योन्याध्यास हो जाने से यह स्थूल देह भी चेतन सा हो जाता है।

अग्नि में तपकर लाल हुए लोहे के पिण्ड के समान, अहंकार में पड़ी हुई चैतन्य की छाया और अहंकार दोनों ही इतने हिल मिल जाते हैं, कि फिर उसमें "इतना भाग अहंकार है तथा इतना चिच्छाया का का स्वरूप है" यह भेद नहीं रह जाता। चैतन्य की छाया को लिये हुए वह अहंकार, जब इस जड स्थूलशरीर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध कर लेता है, तो उस अहंकार से प्रभावित होकर यह मुर्दा देह भी चेतन (ज्ञान स्वरूप) दीखने लगता है। मरकत मणि की शुद्ध जाति को पहचानने के लिये जब उसे दूध में डाला जाता है, तब सम्पूर्ण श्वेत दूध उसके ही हरित वर्ण का दीखने लगता है, उस दूध में से उस मणि को निकाल लें तो दूध श्वेत का श्वेत ही शेष रह जाता है, इसी प्रकार स्वभाव से सर्वान्तर कूटस्थ असंग तथा ज्ञानस्वरूप साक्षी, अहंकार या इन्द्रिय या स्थूल देह इन में से जिस किसी को अपनी छाया के प्रभाव से प्रभावित कर देता है, उसे ही अपने समान चेतन-सा बना डालता है। उसकी छाया के हटते ही (सुषुप्ति आदि में) यह देह फिर जड का जड ही शेष रह जाता है। इससे समझ लो कि इन देहादियों में प्रतीत होनेवाली चेतनता, इनकी अपनी नहीं है। वह तो इस साक्षी चेतन से ऋण रूप में ली गई है। जो कि (चेतनता) समय समय पर (निद्रा आदि में) अपने अधिष्ठान साक्षी में वापिस चली जाती है।

अहंकारस्य तादात्म्यं चिच्छाया-देह-साक्षिभिः।
सहजं कर्मजं भ्रान्तिजन्यं च त्रिविधं क्रमात् ॥ ८ ॥

उस अहंकार का चिच्छाया स्थूल देह तथा साक्षी के साथ क्रम से सहज कर्मज तथा भ्रान्तिजन्य इन तीन प्रकार का तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है।

वह अहंकार (कभी तो चैतन्य की छाया के साथ, कभी स्थूल देह के साथ तथा कभी साक्षी के साथ तादात्म्य (एकता) कर लेता

है)। जब चैतन्य की छाया के साथ तादात्म्य करता है तो उसे 'सहज तादात्म्य' कहते हैं। जब इस स्थूल देह से तादात्म्य करता है तो उसे 'कर्मज तादात्म्य' कहते हैं। जब कि साक्षी के साथ तादात्म्य करता है तो उसे 'भ्रान्तिजन्य तादात्म्य' कहते हैं। जब कि चिच्छाया और अहंकार उत्पन्न होते हैं, तब उनके साथ ही वह तादात्म्य भी उदय हो जाता है, इस लिए उसे 'सहजतादात्म्य' कहते हैं। सुषुप्ति के समाप्त होने पर जब कि जाग्रत् काल के भोगों को देनेवाले कर्मों का उदय होता है, तब उस अहंकार का इस स्थूल देह के साथ तादात्म्य हो जाता है जिससे कि इस जड देह में भी भोगों को भोगने का सामर्थ्य उदय हो जाता है। इसीलिए (कर्मों के प्रताप से होने के कारण ही) उसको 'कर्मजतादात्म्य' कहते हैं। यह तादात्म्य सम्बन्ध भोगदायी कर्मों के समाप्त होते ही सुषुप्ति आदि में फिर फिर नष्ट होता रहता है। अहंकार के साक्षी को न पहचानने के कारण, जब कि उस अहंकार और उसके साक्षी चेतन का (अनादि तथा अनिर्वचनीय भ्रान्ति के प्रभाव से) तादात्म्य सम्बन्ध हो जाता है तब वह 'भ्रान्तिजन्य तादात्म्य सम्बन्ध' कहाता है। यह सम्बन्ध अधिष्ठान के यथार्थ स्वरूप को पहचानते ही (रज्जु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होते ही रज्जुसर्प के तादात्म्य की तरह) क्षणमात्र में निवृत्त हो जाता है।

सम्बन्धिनो स्सतो नास्ति निवृत्तिः सहजस्य तु।
कर्मक्षयात्प्रबोधाच्च निवर्तेते क्रमादुभे ॥९॥

वह 'सहजतादात्म्य' तो जब तक उसके सम्बन्धी (अहंकार और चैतन्य का प्रतिबिम्ब) बने रहेंगे, तब तक कदापि निवृत्त न होगा। परन्तु हाँ देह के साथ उत्पन्न हुआ 'कर्मजतादात्म्य' सुषुप्ति आदि के समय कर्मों के क्षीण हो जाने पर निवृत्त हो जायगा तथा साक्षी के साथ उत्पन्न हुआ 'भ्रान्तिजन्यतादात्म्य' ब्रह्मज्ञान हो जाने पर निवृत्त हो जायगा।

जो अहंकार और चिच्छाया (चिदाभास) परस्पर के सम्बन्धी होकर ही उत्पन्न होते हैं या यों कहें कि उत्पत्ति काल में ही जो सम्बन्धी बन जाते हैं, उन दोनों सम्बन्धियों का 'सहजतादात्म्य' तो उनके विद्यमान रहते रहते कदापि निवृत्त नहीं होगा। परन्तु हाँ 'कर्मज' तथा 'भ्रान्तिजन्य' ये दोनों तादात्म्य सम्बन्ध क्रमानुसार भोग-दायी कर्मों के क्षीण हो जाने पर तथा आत्मस्वरूप का बोध हो जाने पर निवृत्त हो सकते हैं। इसे यों समझें कि—सुषुप्ति मूर्छा तथा मरण आदि के समय, जबकि जाग्रद्भोगदायी कर्म क्षीण हो जाते हैं, तब कर्म-रूपी निमित्त के न रहने से, अहंकार और यह स्थूल देह आपस का सम्बन्ध छोड़ बैठते हैं। तब यह 'कर्मजतादात्म्य' सम्बन्ध स्वयमेव निवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार अहंकार तथा साक्षी का 'भ्रान्तिजन्यतादात्म्य' सम्बन्ध भी श्रुति तथा आचार्य का अनुग्रह होने पर, (जब कि ब्रह्मा-त्मैक्य का साक्षात्कार हो जाता है, और भ्रान्ति का अज्ञानरूपी निमित्त नहीं रहता तो) स्वयमेव निवृत्त हो जाता है—अर्थात् तब अहंकार तथा साक्षी का परस्पर का जो केवल आविद्यक सम्बन्ध हो रहा था वह समूल उच्छिन्न हो जाता है। तब वह अहंकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान होने पर, जैसे कल्पित रजत शुक्ति में विलीन हो जाता है इसी तरह, अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में ही विलीन हो जाता है।

अहंकारलये सुप्तौ भवेद्देहो प्यचेतनः।
अहंकारविकासार्धः स्वप्नः सर्वस्तु जागरः ॥१०॥

सुषुप्ति के समय—जब कि अहंकार का पूरा लय हो जाता है तो यह स्थूल देह भी बिलकुल अचेतन हो जाता है। जब तो अहंकार का आधा विकास होता है तब वह स्वप्नावस्था कहाती है। अहंकार के पूर्णरूप से विकसित हो जाने पर जागरण अवस्था आ जाती है।

(यहाँ तक अहंकार के प्रभाव का वर्णन समाप्त हुआ। अब आगे अन्तःकरण का वर्णन किया जायगा)।

जाग्रत् काल के भोगों को 'स्थूल भोग' तथा स्वप्न काल के भोगों को 'सूक्ष्म भोग' कहा जाता है। पुण्य पाप कर्मों की तीव्रता के कारण ही जाग्रत् काल के भोग स्थायी होते हैं, और पुण्य पाप कर्मों की मन्दता के कारण स्वप्नकाल के भोग क्षणिक हुआ करते हैं। परन्तु जब कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के भोगों को देनेवाले कर्म समाप्त हो जाते हैं, तब तो वह अहंकार निकम्मा होकर अपने कारण (अज्ञान) में लीन हो जाता है। अहंकार की उस लयावस्था को ही 'सुषुप्ति' कहते हैं। जिस अवस्था के आ जाने पर इस देह की वास्तविक जड-रूपता स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है, और केवल अहंकार के ही सम्बन्ध से उत्पन्न हुई कृत्रिम चेतनता छिप जाती है। जैसा कि श्रुति में कहा है—'अन्धः सन्ननन्धो भवति, विद्धः सन्नविद्धो भवति, उपतापी सन्ननुपतापी भवति' अर्थात् जाग्रत् काल में यदि वह किसी चक्षुरादि इन्द्रिय से हीन भी हो तो भी सुषुप्तिकाल आते ही, आत्ममात्र शेष रह जाने से, वे अन्धापन आदि इन्द्रिय-दोष उसमें नहीं रहते। इसी प्रकार यदि वह शरीर से घायल भी हो तो उस समय अशरीर हो जाने के कारण अविद्ध (बेघायल) हो जाता है। यदि उसके मन में उपताप हो तो भी सुषुप्ति काल आते ही उन सब चिन्ताओं से रहित हो जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि सुषुप्ति में इन्द्रिय देह तथा मन के धर्मों से असंपृक्त होकर अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। उस सुषुप्ति के पश्चात् जब कि सूक्ष्म भोगों को देनेवाले कर्म उदय होते हैं और वह अहंकार अपने कारण अज्ञान में से अंशतः बाहर निकल कर आधा विकसित होता है, तो स्वप्नावस्था आजाती है। क्योंकि उस समय अहंकार से भिन्न और कोई भी बाह्य पदार्थ नहीं रहता, भोगों के केवल संस्कारमात्र ही रहते हैं। उस सूक्ष्म भोग के समय

इस स्थूल शरीर में अभिमान नहीं रहता, किन्तु अहंकार का प्रभाव हमारे शरीर की सूक्ष्म नाडियों में ही परिमित रहता है। यही अहंकार का आधा विकास कहाता है इसे ही 'स्वप्न' भी कहते हैं। इसीलिए उपनिषदों में बतलाया है कि 'न तत्र रथा न रथयोगा भवन्ति अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते' अर्थात् स्वप्नकाल में न रथ होते हैं, और न घोड़े ही होते हैं, परन्तु अपनी वासना के अनुसार रथ घोड़े मार्ग आदि सब पदार्थों की कल्पना कर लेता है। उस स्वप्नावस्था के भी व्यतीत होने पर जब कि स्थूल भोगों को देनेवाले कर्म उदय होते हैं, तब उन कर्मों के प्रभाव से, वही अहंकार अपने कारण अज्ञान में से सम्पूर्णतया बाहर निकल कर, इस देह को पूरा पूरा व्याप्त कर लेता है, और तब सर्वेन्द्रियों से सर्व विषयों का ज्ञान होने लग जाता है। अहंकार के इस पूर्ण विकास को ही 'जागरण' कहा जाता है। इस अवस्था के आजाने पर (जबकि इस देह का अहंकार के साथ दुबारा सम्बन्ध होता है तो) यह मृतदेह भी चेतन सा प्रतीत होने लगता है। परन्तु वस्तुतः यह देह कदापि चेतन नहीं है। इन तीनों अवस्थाओं के स्वरूप को न जानकर ही भ्रान्ति के कारण अविचारी लोग, कर्तानाम वाली तथा अहंकृतिरूप बुद्धि के प्रभाव में आकर, इस देह को ही चेतन मान बैठते हैं, और मर्त्यलोक के आजीवन सहायक हो जाते हैं। उन्हें परमार्थ के विचार का प्रसंग कभी नहीं आत। उन्हें ऐसे विचारों के लिये फुर्सत भी नहीं मिलती। उन्हें यह पता ही नहीं रहता, कि सकल जगद्व्यवहार अहंकार की गुप्त सहायता से ही चल रहा है।

अन्तःकरणवृत्तिश्च चितिच्छायैक्यमागता।
वासनाः कल्पयेत्स्वप्ने बोधेऽक्षैर्विषयान् बहिः ॥११॥

अन्तःकरण की वृत्ति जब कि स्वप्नकाल में (तपे हुए लोहपिण्ड के

समान) चैतन्य की छाया के साथ एकता को प्राप्त होती है तो उस समय वह वासनाओं की कल्पना कर डालती है। जागरण काल में तो वही अन्तःकरण की वृत्ति देह से बाहर इन्द्रियों की सहायता से विषयों की कल्पना कर लेती है।

अहमिदम् (मैं यह) इस स्वरूप से प्रकट होनेवाली, मन नाम की वह दूसरी अन्तःकरणवृत्ति भी, अहंकार की तरह ही जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में क्रमशः कभी संकुचित और कभी विकसित होती रहती है। सुषुप्ति काल में प्रथम तो वह भी अहंकार की तरह ही लीन रहती है। वही अन्तःकरणवृत्ति, सूक्ष्म भोगों को देनेवाले कर्म जब उदय होते हैं तो तपे हुए लोहपिण्ड के समान चिच्छाया के साथ एकता को प्राप्त होकर स्वप्नकाल में सूक्ष्मनाडियों में ही परिमित रहकर, कर्ता कर्म करण तथा क्रिया रूप व्यवहार करने मे समर्थ वासनाओं को उत्पन्न किया करती है। जिससे कि कर्त्ता अहंकार को सूक्ष्म भोग प्राप्त होने लगते हैं। स्थूल भोगों को देनेवाले कर्म जब उदय होते हैं तो फिर वही अन्तःकरणवृत्ति इस स्थूल शरीर के साथ मिलकर, (जागरणकाल में) श्रोत्रादि इन्द्रियों की सहायता से, बाह्य शब्दादि विषयों की कल्पना कर डालती है।

इस कल्पना का तात्पर्य तो यह है कि—बाह्य पदार्थों का स्वरूप यद्यपि ईश्वरकल्पित है, तथापि उनका भोग्य आकार अन्तःकरण की कल्पना से ही उत्पन्न होता है। इसीलिये अपने अपने अन्तःकरण की कल्पना के अनुसार एक ही पदार्थ नाना लोगों को नाना प्रकार के भोग देने में समर्थ हो जाता है। जैसे कि—ईश्वरनिर्मित एक ही स्त्री-शरीर भोक्ताओं की भिन्न भिन्न भावनाओं के अनुसार किसी को पत्नी भोग किसी को मातृभोग आदि नाना भोग देने में समर्थ हो जाता है।

मनोहंकृत्युपादानं लिङ्गमेकं जडात्मकम्।
अवस्थात्रयमन्वेति जायते म्रियते तथा ॥१२॥

मन और अहंकार का उपादान कारण जो जडस्वरूप लिंग देह है वह ही जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होता है तथा वही जन्मता है और वही मरता रहता है।

मन तथा अहंकार के उपादानकारण उसी अन्तःकरण नामक द्रव्य को 'लिंग' कहते हैं। क्योंकि उसी से सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म की अवगति (ज्ञान) होती है। ज्ञान और क्रिया नामक दोनों शक्तियें उसमें आकर एक हो जाती हैं। इस प्रकार का वह अन्तःकरण यद्यपि स्वभाव से जड है, तो भी अपने में प्रविष्ट चैतन्य की छाया के कारण इस स्थूल शरीर को भी अपना आत्मा ही समझ लेता है और कर्मगति के प्रभाव में आकर, अपने संकोच और विकास के द्वारा, प्रतिदिन तीनों अवस्थाओं, तथा जन्म मरणादि गतियों को, घटीयन्त्र की तरह बार बार प्राप्त होता रहता है।

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम् ।
विक्षेपशक्ति लिंगादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत ॥१३॥

माया में विक्षेप और आवरणनामक दो शक्तियें हैं। माया की विक्षेप शक्ति का काम यह है कि वह लिंगदेह से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त सकल जगत् को उत्पन्न कर देती है।

(तृण से लेकर विराट्पर्यन्त इस समस्त प्रपंच की मूलकारण, सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म के आश्रित रहने वाली, अविद्या अज्ञान तम तथा मोह आदि नामों वाली, सम्पूर्ण दुःखादि अनर्थों की मूल निदान) इस अनिर्वचनीय माया में 'विक्षेप' और 'आवरण' नाम की दो शक्तियें निवास करती हैं। आवरण शक्ति का काम है ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप को ढक लेना, और विक्षेप शक्ति का काम है सांसारिक सुख दुःखादि भोगों को देना। विविध रूपों को कर देना अथवा विविध रूपों में हो जाना इन दो तरह की विक्षेप शक्ति अध्यात्म में तो विश्व,

तैजस तथा प्राज्ञादि भेदों की, और अधिदैवत में विराट्, हिरण्यगर्भ तथा अन्तर्यामी आदि भेदों की कल्पना करके (सजातीय विजातीय स्वगतादि भेदरहित) चिन्मात्र आत्मा को विक्षेप में डाल देती है। अथवा यों कहें कि वह आत्मा ही इसके प्रभाव से गिरि नदी समुद्र आदि नाना नामरूपों में स्वयमेव परिणत हो जाता है। वह विक्षेप शक्ति लिंगशरीर से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त जो समष्टिव्यष्टिरूप, सम्पूर्ण जगत् है उसकी रचना क्षणमात्र में कर डालती है। 'जायते गच्छति' पैदा हो चला जाय 'पुनर्जायते पुनर्गच्छति' फिर पैदा हो फिर चला जाय इस अर्थ में जगत् शब्द का प्रयोग इस श्लोक में है।

सृष्टिर्नाम ब्रह्मरूपे सच्चिदानन्दवस्तुनि ।
अब्धौ फेनादिवत्सर्वनामरूपप्रसारणा ॥१४॥

समुद्र में फेन तरंगादि की तरह एकमात्र सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में सकल नाम रूप का विस्तार हो जाना ही तो सृष्टि कहाती है।

जैसे कि समुद्र में रहनेवाली विक्षेपात्मिका माया, जब उसी समुद्र में फेन तरंग तथा बुद्बुदादि आकार को धारण कर लेती है, तब उसे सामुद्रिक सृष्टि कहा जाता है। वैसे ही परमार्थ सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म में सकल नामरूप प्रपंच का विस्तार ही सृष्टि कहाती है। अर्थात् उस सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म में निवास करनेवाली वह विक्षेपरूपिणी माया, जब उसी ब्रह्म में विवर्त रूप परिणाम के द्वारा नामरूप धारण कर लेती है, तब उसी को सृष्टि कहने लगते हैं।

यहाँ तक विक्षेप शक्ति के द्वारा माया के स्वरूप का वर्णन हुआ अब आवरण शक्ति के द्वारा भी माया का रूप दिखाते हैं।

अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः ।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ॥१५॥

(माया की) दूसरी आवरण शक्ति ने इस स्थूल देह के अन्दर

तो दृग्दृश्य के भेद को ढक दिया है (उसे प्रकट होने नहीं दिया) और शरीर से बाहर ब्रह्म तथा सृष्टि के भेद को ढक डाला है। यह आवरण शक्ति ही संसार का मूल कारण है।

आवरण नाम की जो दूसरी माया शक्ति है उसने इस स्थूल शरीर के अन्दर तो यह अनिष्ट कर डाला है कि जो द्रष्टा आत्मा, और जो अहंकारादि देह पर्यन्त दृश्यपदार्थ एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण हैं, एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं, उन दोनों की विलक्षणता या पृथक्ता को बिल्कुल छिपा लिया है (जिससे कि यह साक्षी द्रष्टा है और ये देहादि दृश्य हैं ऐसा भान नहीं होने पाता) और देह से बाहर इस आवरण नाम की माया शक्ति ने यह उत्पात मचाया है कि परब्रह्म और (उसमें अध्यस्त नाम रूपात्मक) जगत् के भेद को भी प्रकट होने योग्य नहीं छोड़ा है। इस दृक्स्वरूप साक्षी को जो कि इस कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि संसार में फँसना पड़ गया है, उसका कारण यह आवरण शक्ति ही है। अन्योन्याध्यास का कारण होने से यही शक्ति सम्पूर्ण अनर्थों को करनेवाली है। सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म को भोग्यरूप में कर डालना भी इसी शक्ति का काम है। इस शक्ति के प्रभाव में आकर यह साक्षी शरीर के अन्दर तो कर्तृत्वभोक्तृत्वरूपी संसार को प्राप्त हो जाता है, तथा शरीर से बाहर इसके प्रताप से सच्चिदानन्दब्रह्म के भोग्यत्व आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गं देहेन संयुतम्।
चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद्व्यावहारिकः ॥१६॥

चैतन्य की छाया का प्रवेश हो जाने से, साक्षी आत्मा के सामने (या उसकी कृपा से) भासित होनेवाला और स्थूल देह के साथ हिला मिला, यह लिङ्ग देह ही 'व्यावहारिक जीव' कहाता है।

चैतन्य की छाया का समावेश हो जाने से ही साक्षी प्रत्यगात्मा

के सामने (कर्मरूप से) प्रतीत होने वाला, और इस स्थूल देह के साथ एकता को प्राप्त हुआ वह लिङ्गशरीर ही 'व्यावहारिक जीव' कहाता है। क्योंकि अनादि काल से लेकर मोक्ष होने तक स्थूल शरीरों के बार बार बदलते रहने पर भी यह कभी नहीं बदलता। इसी के सहारे से इस लोक तथा परलोक के सकल व्यवहारों का निर्वाह होता है। इस लिङ्ग शरीर (किंवा व्यावहारिक जीव) ने अनिर्वचनीय माया से अपनी उत्पत्ति का लाभ किया है। इस सकल संसार के कर्मों का निर्वाहक भी यही है। परन्तु ज्योंही कोई अधिकारी सच्चिदानन्द ब्रह्मात्मैक्य स्वरूप में स्थित होकर मोक्ष लाभ कर लेता है, त्योंही यह 'व्यावहारिक जीव' विनष्ट हो जाता है। यों परमार्थावस्था में न रहने तथा केवल व्यवहारावस्था में ही रहने से इसको 'व्यावहारिक जीव' कहा जाता है।

अस्य जीवत्वमारोपा त्साक्षिण्यप्यवभासते।
आवृतौ तु विनष्टायां भेदे भातेऽपयाति तत् ॥१७॥

केवल भ्रम के ही कारण, इस 'व्यावहारिक जीव' का जीवपना, निर्लेप साक्षी में भी प्रतीत होने लग पड़ता है। हाँ, जब आवरण नष्ट हो जाता है और (जब व्यावहारिक जीव और साक्षी का) भेद खुल जाता है, तो साक्षी का वह भ्रान्ति से उत्पन्न हुआ जीव भाव नहीं रहता।

आरोप से अर्थात् आवरणशक्ति के कारण उत्पन्न हुए अन्योन्याध्यास के प्रताप से इस 'व्यावहारिक जीव' का जीवपना (केवल दृग्रूप साक्षी) प्रत्यगात्मा में भी प्रतीत होने लग पड़ता है स्वरूप-चैतन्य का ज्ञान होना भी इसी कारण से सम्भव हो गया है। परन्तु अखण्ड एकरस ब्रह्मात्मसाक्षात्कार के प्रभाव से, जब कि असत्वावृति और अभानावृति नाम के दोनों ही आवरणों का सदा के लिये पूरा पूरा नाश हो जाता है और जब कि यह लिंग शरीर (अथवा व्यावहारिक जीव) तो दृश्य है, तथा प्रत्यग्बोधरूप मैं साक्षी द्रष्टा हूँ यह

दृश्य और द्रष्टा का भेद भले प्रकार प्रकाशित हो चुकता है, तो साक्षी में आरोप से किया हुआ यह जीवभाव नष्ट हो जाता है (साक्षी में आरोपित इसी जीवभाव के नष्ट करने के लिये मोक्ष शास्त्र की रचना की गई है) ।

तथा सर्गब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति ।
या शक्ति स्तद्वशाद्ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ॥१८॥

उसी तरह जिस आवरण शक्ति ने ब्रह्म और सृष्टि के भेद को ढक दिया है उसी शक्ति के प्रभाव से ब्रह्म भी विकारी सा प्रतीत होने लग पड़ा है ।

जिस प्रकार वह आवरण शक्ति शरीर के अन्दर द्रष्टा और दृश्य के भेद को प्रकट होने नहीं देती किन्तु उसे ढके रहती है, (जिससे कि व्यावहारिक जीव का जीवभाव आरोप के कारण साक्षी में प्रतीत होने लगता है, इसी प्रकार वही आवरण शक्ति शरीर से बाहर इस नाम-रूपात्मक सृष्टि की तथा उस ब्रह्म की परस्पर अत्यन्त विलक्षणता को भी प्रकट नहीं होने देती । उसी आवरण शक्ति के अप्रतिम प्रभाव से सृष्टि और ब्रह्मका परस्पर अन्योन्याध्यास होकर वह सच्चिदानन्द परमात्मा, कूटस्थ होने पर भी और भाव विकारों से रहित होने पर भी, सृष्टिगत विकारों से विकारी सा प्रतीत होने लग जाता है ।

अत्राप्यावृतिनाशेन विभाति ब्रह्मसर्गयोः ।
भेद स्तत्र विकारः स्यात्सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित् ॥१९॥

अन्दर की तरह यहाँ बाहर भी आवरण के नष्ट हो जाने से ब्रह्म और सृष्टि का भेद खुल जाता है । तब वह विद्वान् समझ लेता है कि ये जन्मादि विकार तो सृष्टि में ही होते हैं, ब्रह्म में तो कभी भी कोई विकार नहीं होता ।

आवरण के नाश से भेद का ज्ञान हो जाने पर जैसे कि शरीर के

अन्दर का आरोपित जीवभाव नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार शरीर से बाहर का भी जब आवरण नष्ट होता है—जब साधक को सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्मात्मा का ज्ञान हो जाता है—जबसाधकों को 'ब्रह्मास्मि' कह देना पड़ता है—जब साधकों में से सूक्ष्मवासनायें भी भाग खड़ी होती हैं, तब ब्रह्म और सृष्टि का जो भेद अब तक छिप रहा था वह प्रकट होजाता है। उस समय पर विद्वान् लोग अपने मन में कहा करते हैं कि—ये सम्पूर्ण जन्मादि विकार तो सृष्टि में ही होते हैं, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म में तो कहीं भी कोई विकार नहीं होता।

ऊपर के ग्रन्थ से त्वंपदार्थ (जीव) का विवेचन किया गया, अब तत्पदार्थ (ब्रह्म) का विवेचन किया जाता है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नामचेत्यंशपंचकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥२०॥

सत् चित् आनन्द नाम तथा रूप इन पाँच भागों में संसार को विभक्त किया जा सकता है। इनमें पहले तीन ब्रह्म के रूप हैं, पिछले दो जगत् के रूप हैं।

सत् चित् आनन्द नाम तथा रूप इन्हीं पाँच अंशों का संसार के सम्पूर्ण व्यवहारों में होना अनिवार्य होता है। इन पांचों के विना कोई भी व्यवहार नहीं चलता, अर्थात् संसार के सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ सत् चित् आनन्द नाम तथा रूप (आकार) इन पांच भागों में विभक्त रहते हैं। इनमें पहिले सत् चित् तथा आनन्द नामक तीनों अंश तो ब्रह्म के स्वरूप हैं, क्योंकि सच्चिदानन्द रूप को ही ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण बताया जाता है। इन तीनों से शेष रहे हुए नाम तथा रूप (आकार) ये दोनों अंश ही जगत् के स्वरूप हैं। जब सच्चिदानन्द ब्रह्म में नाम रूप का विस्तार हो जाता है, तो उसे ही जगत् कहने लगते हैं।

खवाय्वग्निजलोर्वीषु देवतिर्यङ्नरादिषु ।
अभिन्नाः सच्चिदानन्दा भिद्येते रूपनामनी ॥२१॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी नामक समस्त भूतों में, देव, तिर्यक् तथा मनुष्य आदि सकल भौतिक पदार्थों में, सत् चित् तथा आनन्द तो एक समान ही पाये जाते हैं, केवल नाम और रूप ही परस्पर भिन्न भिन्न हैं।

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी नामक पांच भूतों, देवतिर्यङ् मनुष्यादि सकल भौतिक पदार्थों में 'सत् चित् आनन्द' ये तीनों अंश तो समानरूप से ही विराजमान रहते हैं, जिसके कारण हम लोग सदा ही 'घट है' 'घट की प्रतीति भी होती है' 'जलपान आदि का साधन होने से वह प्रिय भी लगता है' इत्यादि व्यवहार किया करते हैं। परन्तु उन्हीं भूत भौतिक पदार्थों में रहने वाले, एक दूसरे से सर्वथा भिन्न 'रूप' तथा 'नाम' नामक दोनों अंशों ने, इस अबोध संसार में कोहराम मचा रक्खा है—इन्होंने अभिन्न को भिन्न बना दिया है, अद्वैत को द्वैत की वेशभूषा पहना दी है, किसी को एक दूसरे से न मिलने देने के लिए बड़े बड़े गर्त बना डाले हैं, इनके प्रभाव से किसी की आकृति किसी से नहीं मिलती, नाम भी सब के जुदा जुदा होगये हैं। अन्ततः यह सब उस अनिवर्चनीय महामहिम माया का प्रभाव है कि—उसने सब को बनाकर सब के नाम और सब के आकार पृथक् पृथक् बना डाले हैं, और संसार में भेद डाल दिया है।

उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः ।
समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाथवा बहिः ॥२२॥

(जगत् के स्वरूप) नामरूपों की उपेक्षा करके सच्चिदानन्द ब्रह्म में तत्पर होकर या तो हृदय में या बाहर कहीं भी सदा ही समाधि किया करे।

एक दूसरे से सर्वथा भिन्न इस जगत् * के क्षण क्षण में नष्ट होने वाले आकारों और नामों की सर्वथा उपेक्षा करके (इनकी ओर से सर्वथा उदासीन होकर) सच्चिदानन्द ब्रह्म में ही एकचित्त होकर, आगे बताई विधि के अनुसार, अपनी ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियों को तो हृदयकमल में तथा कर्मेन्द्रियों की वृत्तियों को जहाँ का तहाँ रोककर मुमुक्षु पुरुष शरीर के अन्दर या वाहर निरन्तर समाधि का अभ्यास किया करे।

सविकल्पो निर्विकल्पः समाधि र्द्विविधो हृदि।
दृश्यशब्दानुवेधेन सविकल्पः पुनर्द्विधा ॥२३॥

हृदय में की जानेवाली उस समाधि के मुख्य दो भेद हैं, एक 'सविकल्प' दूसरा 'निर्विकल्प'। सविकल्प समाधि के भी दो अवान्तर भेद होते हैं, एक 'दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि', दूसरी 'शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि'।

जब वह समाधि किसी दृश्य से मिश्रित हो तब उस समाधि को 'दृश्यानुविद्ध सविकल्प' तथा जब वह समाधि, किसी शब्द से मिश्रित हो तब उस समाधि को 'शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि' कहते हैं, इन दोनों के अतिरिक्त तीसरी निर्विकल्प समाधि को मिलाकर तीन प्रकार की समाधि हो जाती है। अधिकारी को अपने हृदय में इन तीनों समाधियों को करते रहना चाहिये।

कामाद्या श्चित्तगा दृश्या स्तत्साक्षित्वेन चेतनम्।
ध्यायेद्दृश्यानुविद्धोयं समाधिः सविकल्पकः ॥२४॥

काम आदि विकार चित्त में रहनेवाले दृश्य होते हैं, उन दृश्यों

---

* 'जायते गच्छति पुनर्जायते पुनर्गच्छति' उत्पन्न हो नष्ट होजाय फिर उत्पन्न हो फिर विनष्ट होजाय उसे जगत् कहते हैं यह परम्परा नाम रूपों में सदा ही लगी रहती है इसलिये इन नामरूपों को ही 'जगत्' कहते हैं।

के साक्षी रूप से चेतन तत्व का ध्यान किया करे। उन काम क्रोध आदियों में से एक एक को पकड़ कर यह सोचा करे कि इस काम का या इस क्रोध का साक्षी जो चैतन्य है वही मेरा यथार्थ रूप है। जब इस प्रकार चिन्मात्र की भावना की जाने लगी हो तो यही 'दृश्यानुविद्ध सविकल्प' समाधि कहाती हैं।

यह अन्तःकरण ही काम तथा संकल्प आदि के उदय होने का स्थान है। जब कभी अन्तःकरण में काम तथा संकल्प आदि उदय होने लगें, उसी समय, उन काम या संकल्प आदियों में से एक को पकड़ कर निम्न-विधि से चिन्मात्र आत्मा का ध्यान करना चाहिये कि—इन कामादियों का साक्षी जो चैतन्य है वही तो मेरा वास्तविक स्वरूप है, ये कामादि तो आने जानेवाले धर्म हैं, मैं कूटस्थ इनका साक्षी हूँ। जब कभी अन्तःकरण में इनका उदय होता है तब तब मैं इनको प्रकाशित कर दिया करता हूँ। जब ये कामादि, अपने क्षणिक स्वभाव के अनुसार विनष्ट हो जाते हैं तब भी, (शून्य घर में जलते हुए दीपक की तरह) मेरा अखण्ड प्रकाश सदा ही बना रहता है। स्नेह के बिना जलते हुए इस मेरे बोधदीपक ने बुझना तो कभी सीखा ही नहीं। मैं इन कामादि जैसा परिणामी नहीं हूँ, मध्यान्ह काल में अपने बिल में से निकले हुए सर्प को जिस प्रकार सूर्य अविकृत रहकर ही प्रकाशित किया करता है और उस सूर्य में किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं होता, इसी प्रकार मैं साक्षी चैतन्य भी स्वयं सर्वथा अविकारी रहकर ही इन कामादियों को प्रकाशित किया करता हूँ। इनके विनष्ट हो जाने पर जो निर्विकल्प ज्ञान शेष रह जाता है वह ही मेरा वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकार जब चिन्मात्र की भावना बढ़ने लगे तो यही 'दृश्यानुविद्ध सविकल्प' समाधि होती है।

असंगः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः।
असीतिशब्दविद्धोयं समाधिः सविकल्पकः ॥२५॥

मैं असंग हूँ, मैं सच्चिदानन्द हूँ, मैं स्वयं प्रकाश हूँ, मैं द्वैत से रहित हूँ, यों शब्दों के सहारे से की जानेवाली समाधि अन्दर की 'शब्दानुविद्ध समाधि' कहाती है।

मैं असंग हूँ **'असङ्गोह्ययं पुरुषः'** मैं सच्चिदानन्द हूँ **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दंब्रह्म'** मैं स्वयं प्रकाश हूँ **'अदृष्टंद्रष्टृश्रुतं श्रोतृ, न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येत्'** मेरे प्रकाश्य कामादि भी मुझ प्रकाशस्वरूप से भिन्न नहीं हैं, इसलिये मैं कामादि द्वैत से रहित हूँ **'एकमेवाद्वितीयम्'** इस प्रकार का प्रत्यग्रूप जो साक्षी तत्व है वही तत्व मैं हूँ ऐसी भावना निरन्तर ही करते रहना चाहिये। आत्मविषयक इन असंग आदि शब्दों की भावना से कामादि सम्पूर्णवृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं, विजातीय प्रत्ययों का प्रवाह बन्द होकर, प्रत्यक् चैतन्य को विषय करने वाली विचारधारा बहने लगती है। इसी को अन्दर की 'शब्दानु विद्ध सविकल्प समाधि' कहते हैं। वसिष्ठ मुनि ने इसी को इन शब्दों में प्रकट किया है—"निरीहोस्मि निरंशोस्मि स्वस्थोऽस्म्यस्मि च निःस्पृहः। शान्तो हमर्थरूपोस्मि चिरायाहमलं स्थितः" मैं निरीह हूँ, निरवयव हूँ, स्वस्थ हूँ, निःस्पृह हूँ, शान्त हूँ, प्राप्तव्य अर्थों का स्वरूप भी मैं ही हूँ इस लिए अब तो मैं अनन्तकाल के लिये पूर्ण होकर स्थित हो गया हूँ।

स्वानुभूतिरसावेशाद् दृश्यशब्दानुपेक्षितुः।
निर्विकल्पः समाधिःस्यान्निवातस्थितदीपवत् ॥२६॥

(इन दोनों समाधियों के करने से) जब कि अपने अनुभव के रस का आवेश आने लग पड़े और दृश्य तथा शब्दों की उपेक्षा होनी प्रारम्भ हो जाय, तो अधिकारी को निवात स्थान में रखे हुए दीपक की तरह की 'निर्विकल्प समाधि' अपने आप ही होने लगती है।

पूर्वोक्त दोनों प्रकार की समाधियों का अभ्यास करते करते, उनकी

परिपक्व अवस्था आने पर, जब कि अभ्यासी को उसके स्वरूपभूत ज्ञानानन्द का आविर्भाव होता है, जब अधिकारी स्वरूपभूत ज्ञानानन्द में डूब जाता है, या स्वरूपभूत ज्ञानानन्द से परिपूर्ण हो जाता है, अथवा जब कि भूतावेश की तरह सकल संसार को भुलानेवाला स्वानुभवानन्द का आवेश आता है, तब वह अधिकारी सम्पूर्ण कामादि, दृश्यों, तथा (सविकल्पसमाधि में सहायता देनेवाले) असंग आदि शब्दों को भी अपने लिये निष्फल समझ कर, (अपना अन्धकारावृत मार्ग देखकर फैंकी हुई मशाल की तरह) छोड़ देता है और चुपचाप हो जाता है; तब स्वानुभूतिरसावेश के कारण ग्रहग्रस्त की तरह की जो अलौकिक और दिव्य पराधीनता उदय होती है (जिसके उदय होने पर अन्दर और बाहर कुछ भी भान नहीं रहता) वही शान्त अवस्था 'निर्विकल्प समाधि' कहाती है। लय विक्षेप तथा कषाय आदि प्रतिबन्ध जब हट जाते हैं तो यह असंप्रज्ञात नामक निर्विकल्प समाधि स्वयमेव होने लगती है। इस के लिये किसी अन्य प्रयत्न की अपेक्षा नहीं रहती। उस निर्विकल्प समाधि का प्रादुर्भाव होने पर जब कि विषमता को उत्पन्न करने वाले विकल्प निवृत्त हो चुकते हैं, और समता का अखण्ड साम्राज्य सर्वत्र छा जाता है, तब उस अधिकारी का चित्त, निरोधपरिणाम को धारण कर लेता है और वायुरहित प्रदेश में रक्खे हुए दीपक की निश्चेष्ट ज्वाला की तरह निश्चल हो जाता है। वसिष्ठ मुनि ने इसी भाव को इन शब्दों में प्रकट किया है—"अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे, अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे। मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव, भावनामखिलां त्यक्त्वा यदिष्टं तन्मयो भव। द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह, दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज। प्रशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः, जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा" ओ! अनन्त साम्राज्य के साधक! तुम्हें चाहिये कि—आकाश में रक्खे हुये खाली घड़े की तरह अन्दर

और बाहर संसार की वासनाओं से खाली हो जाओ ! तथा समुद्र में डूबे हुवे घड़े की तरह अन्दर और बाहर आत्मचैतन्य से परिपूर्ण हो जाओ। अपने आपको कभी भी दृश्य या द्रष्टास्वरूप मत हो जाने दो। इन सम्पूर्ण भावनाओं को छोड़ने के बाद जो प्रिय आत्म-चैतन्य शेष रह जाय केवल तन्मय ही रह जाओ। द्रष्टा दर्शन तथा दृश्य इन सबको तथा इनके सकल संस्कारों को छोड़कर, सविकल्पज्ञान के उदय होने से प्रथम प्रतीत होनेवाले, निर्विकल्प आत्मचैतन्य का भजन करो। जब कि तुम्हारे सर्वसंकल्प शान्त हो जायेंगे—और सैकड़ों योजन लम्बी शिला की तरह अपनी निश्चेष्ट अवस्था को पहचान जाओगे, जाग्रत् और स्वप्न से रहित होकर तुरीय धाम में पहुँच चुकोगे, तब कहा जायगा कि तुमने स्वरूपस्थिति का महालाभ कर लिया।

हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन् कस्मिंश्च वस्तुनि ।
समाधिराद्यः सन्मात्रान्नामरूपपृथक्कृतिः ॥२७॥

हृदय की ही तरह बाहर के देश में भी, जिस किसी भी वस्तु में सत्तामात्र से नामरूप को पृथक् करने लगना, बाहर की 'दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि' कहाती हैं।

जैसे हृदय में साक्षी तत्व में से कामादियों को छाँट देना बताया था, और दृश्यानुविद्ध समाधि करनी बतायी थी वैसे ही बाहर भी अपनी प्रिय किसी भी एक वस्तु को पकड़ो, उसमें जो सत् चित् आनन्द नाम और रूप पाँच अंश हैं उन पाँचों अंशों के दो भाग करो। सच्चिदानन्द ब्रह्म में से नामरूप को अलग कर डालो। इन अलग किये हुए नामरूपों का अधिष्ठान जो सच्चिदानन्द तत्व है वही ब्रह्म है, ऐसा चिन्तन करना ही 'बाह्य दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि' कहाती है। वसिष्ठ ने कहा है 'यत्र स्थितेयं विश्वश्रीः प्रतिभामात्ररूपिणी रज्वां भुजङ्गवद्भाति सोहमात्मा सदोदितः। रस्सी में साँप की तरह प्रतिभामात्र रूपवाली यह विश्वश्री

जिस तत्व में स्थित हो रही है वही सदा उदित रहने वाला आत्म-तत्व मैं हूँ।

अखण्डैकरसं वस्तु सच्चिदानन्दलक्षणम्।
इत्यविच्छिन्नचिन्तेयं समाधि र्मध्यमो भवेत् ॥२८॥

'सच्चिदानन्द रूप जो वस्तु है वह तो अखण्ड है और एक रस है' जब इस प्रकार की अखण्ड चिन्ता रहने लग पड़े तो यह दूसरी 'बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि' कहाती है।

व्यापक होने से जिसमें देशकृत परिच्छेद नहीं, नित्य होने से जिस में कालकृत भेद नहीं, सर्वात्मा होने से जिसमें वस्तुकृत अवच्छेद नहीं, इस प्रकार जो देश काल आदि की मर्यादा में न आनेवाली अखण्ड एक रस (तीनों कालों में एक समान रहने वाली) सच्चिदानन्द स्वरूप सर्वात्मक तथा निरन्तर वस्तु है वही ब्रह्म है। जब कि शान्त चित्त होकर इस रीति से चिन्तन का धारावाहिक प्रवाह बहने लगता है तब वह दूसरी 'बाह्य शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि' कहाती है। वसिष्ठ ने इसको यों कहा है—एवं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितं, नीरन्ध्रभूरिवाशेष-मिति भावय राघव। नाहं न चान्यद्वास्तीति ब्रह्मैवास्मि निरन्तरम् आनन्दपूर्णः सर्वत्राप्यनुद्वेगादुपास्यताम्। ब्रह्म नाम का जो चेतन आकाश है वह सर्वात्मा है, अखण्ड है, निश्छिद्र भूमि के समान वह सम्पूर्ण है, हे राघव! तुमको ऐसी भावना करते रहना चाहिये, कि यहाँ मैं या और कोई भी पदार्थ नहीं है, किन्तु निरन्तर और आनन्दपूर्ण जो एक तत्व है वही मैं हूँ। हे राघव! सभी पदार्थों में इस भावना को करते हुये उद्वेग को अपने पास कभी मत फटकने दो।

स्तब्धीभावो रसास्वादात्तृतीयः पूर्ववन्मतः।
एतैः समाधिभिः षड्भि र्नयेत्कालं निरन्तरम् ॥२९॥

उक्त दोनों प्रकार की बाह्य समाधि करते करते जब ब्रह्मरस का आस्वाद साधकों को मिल जाय और उनमें स्तब्धीभाव आ जाय, जब

वे सम्पूर्ण निश्चल हो जायँ तब यह तीसरी 'निर्विकल्प समाधि' हो जाती है। यह समाधि भी पहली निर्विकल्प समाधि की तरह ही होती है। मुमुक्षु लोग इन छओं प्रकार की समाधियों में से प्रतिक्षण कोई न कोई समाधि करते ही रहें।

अन्दर की तीन प्रकार की समाधि का विषय जो साक्षी तत्व है उसका साक्षीपन तभी स्वीकृत हो सकता है जब कि उसे ब्रह्मतत्व ही माना जय नहीं तो समाधि का कुछ आधार ही नहीं रह जाता। इसी प्रकार बाहर की तीन प्रकार की समाधि का विषय जो ब्रह्म है उसकी सर्वात्मकता तभी स्वीकृत हो सकती है जब कि उसे आत्मतत्व ही मान लिया जाय। यों जब ब्रह्म सर्वात्मक सिद्ध हो जाय, तब रसरूप इस परब्रह्म में अपना भी अन्तर्भाव होने से अपने को भी रसरूप ही समझ लिया जाय तो यही 'रसास्वाद' कहाता है—इस 'रसास्वाद' के प्रभाव से, अन्दर की निर्विकल्प समाधि की तरह, जब कि 'बाह्यदृश्यानुविद्ध' तथा 'बाह्यशब्दानुविद्ध' दोनों प्रकार की सविकल्प समाधियों का अभ्यास अपनी अन्तिम अवस्था पर पहुँच जाता है और भूमानन्द का स्वाद मिलने लगता है, तब वह अधिकारी अपनी सविकल्प समाधि के विषय समष्टि-व्यष्टिरूप इस समस्त दृश्य जगत् को तथा शब्दानुविद्ध समाधि को करानेवाले 'अखण्ड' 'एकरस' आदि शब्दों को भी निष्फल समझ कर, (नदी के पार जाकर छोड़ी हुई नौका की तरह) छोड़कर चुपचाप हो जाता है, और चिरकाल तक आस्वाद लिये हुये भूमानन्द की अद्भुत आनन्द देनेवाली लोकोत्तर पराधीनता में ही मस्त होकर झूमने लगता है, उस समय अधिकारी के मन में जो निर्वातस्थान में रक्खे दीपक की तरह की आश्चर्यदायक निश्चलता उदय होती है उसे ही विद्वान् लोगों ने तृतीय 'निर्विकल्प समाधि' कहा है। मुमुक्षुओं को उचित है कि इन पूर्वोक्त छओं प्रकार की समाधियों को दीर्घकाल पर्यन्त बड़े सत्कार पूर्वक निरन्तर करते ही रहें।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ॥३०॥

(तत् और त्वं इन दोनों पदार्थों का शोध करते करते) जब देहाभिमान गल जाता है जब परमात्मा का ज्ञान हो चुकता है तो मुनि का मन जहाँ जहाँ जाता है उसे वहीं वहीं समाधियाँ होने लगती हैं।

जब अन्दर 'दृग्दृश्यविवेक' कर लिया जाता है तब 'मैं' के साक्षी होने की बात समझ में आजाती है। उसका परिणाम यह होता है कि अहंकार से लेकर देहपर्यन्त पदार्थों को अपना आपा समझना छूट जाता है फिर वह यह नहीं कहता कि 'मैं कर्ता हूँ मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि। यों उसका देहाभिमान शिथिल हो जाता है। और जब कि शरीर से बाहर ब्रह्म और सृष्टि का विवेक कर लिया जाता है तब उसकी समझ में यह बात आजाती है कि नामरूपात्मक यह संसार मिथ्या है इस मिथ्या संसार का अधिष्ठान जो सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म है वही सत्य है। इस प्रकार से जब परमात्मा का परिज्ञान हो चुकता है तो फिर परमात्मतत्व को जानने वाले उस मुमुक्षु का मनोमृग अन्दर वा बाहर जहाँ कहीं भी जिस किसी विषय भूमि में विचरण के लिये निकलता है, वहीं वहीं पूर्वोक्त छओं समाधियों में से कोई न कोई समाधि स्वयमेव हो ही जाती है। तात्पर्य यह हुआ कि उस ज्ञानी की अपनी बोधरूपी शाण पर जो कोई दृश्य रगड़ खा जाता है वही दृश्य चेतनाकार उज्ज्वल रूप धारण कर लेता है। तब तो उस ज्ञानी को सब वस्तुओं में अपना ही निर्विकल्प गुप्त रूप दृष्टि गोचर होने लगता है, जिस के रहस्य को मानवी भाषा के द्वारा उद्घाटन करने का प्रयास निष्फल ही है। क्योंकि जब तक किसी पर ब्रह्मविद्या के आचार्य तथा परमात्मा का साक्षात् अनुग्रह नहीं होता अथवा यदि भाषा की उद्भ्रान्त वर्णन शैली को छोड़कर वर्णन करने लग जाँय तो अधिकारी और आचार्य शास्त्र तथा परमात्मा ये चारों

मिलकर जब तक सर्वात्मना एक नहीं हो जाते, तबतक यह परमपावन रहस्य किसी के भी हाथ नहीं लगता। यद्यपि सब लोग प्रतिदिन और प्रतिक्षण स्वयं ही इस शुभ रहस्य का अनुभव करते रहते हैं, परन्तु इन अकृतार्थ लोगों के विषय में क्या कहा जाय, किसी दरिद्र के घर में यदि महानिधि गड़ रही हो परन्तु उसका ज्ञान न होने से उसकी जैसी कुछ दीन हीन दशा बनी रहती है, वही अवस्था संसार के अज्ञानी लोगों की होती है। जैसे कि जंगली भील लोग दैववशात् हाथ लगे मोतियों को फेंक कर गुंजाओं से ही प्रसन्न रहते हैं, वैसे ही प्रतिदिन होनेवाली अपार आनन्ददायिनी निर्विकल्प अवस्थाओं को छोड़ कर ये लोग क्षुद्रानन्द की चाह में दर दर मारे फिरते हैं। ये अभागे लोग अपने आनन्दस्वरूप को ही विषयभूमियों में तलाश करते करते टूटे फूटे आनन्दकणों से ही अपने को धन्य होना समझ बैठे हैं। देखो दुग्ध-पशु के स्तनों में दुग्ध और रक्त दोनों ही भरे रहते हैं, परन्तु अभागी जोख उसमें से दुग्ध जैसी पवित्र वस्तु को छोड़ कर केवल रक्तपान ही करती है, वैसे ही अगतार्थ लोगों का ध्यान सदा नामरूप जैसी क्षणिक वस्तु पर ही रहता है। ये अकृतार्थ प्राणी सर्वत्र परिपूर्ण निर्विकल्प सच्चिदानन्द वस्तु की तो कभी कल्पना भी नहीं कर सकते। जैसे कि बालक प्रतिबिम्ब के आश्रय दर्पण की या जलाशय की ओर ध्यान नहीं देता, किन्तु उनमें पड़े प्रतिबिम्ब को ही देखता है, या जैसे कि पामर लोग इस सकल स्थूल प्रपंच के आश्रय आकाश को कभी ध्यान में भी नहीं लाते, केवल इस स्थूल प्रपंच पर ही ध्यान रखते हैं वैसे ही ये नामरूप के भक्त, स्थूल दृष्टि लोग, अपने दौर्भाग्य के कारण सकल जगत् के आधार सच्चिदानन्द जैसी पवित्र वस्तु का कभी ध्यान भी नहीं कर पाते।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥३१॥

जब कि उस परावर का दर्शन मिलता है तो हृदय की ग्रन्थि अर्थात् अहंकार टूट जाता है, सब संशय मिट जाते हैं और कर्म नष्ट हो जाते हैं।

सम्पूर्ण रज्जुसर्पों में तथा अन्धकार में प्रतीत होने वाली सब जलधाराओं में जैसे रज्जु ही रज्जु व्याप्त रहती है इसी तरह देह से बाहर सकल नामरूपात्मक पदार्थों में सच्चिदानन्दस्वरूप जो परमात्मा व्याप्त हो रहा है उसी को 'पर' कहा जाता है, इसी प्रकार देह के अन्दर अहंकार आदि दृश्यों से भिन्न मैं, मैं कहाने वाला प्रत्यक्चेतन स्वरूप साक्षी नामक जो जीवात्मा है उसको 'अवर' कहा जाता है। परन्तु यदि कोई अपनी महामहिमा के कारण 'पर' भी हो और 'अवर' भी हो तो मुनि लोग उसे 'परावर' कहते हुये गद्गद् हो जाते हैं। स्वयंप्रकाश होने से मन और वाणी के अगोचर उसी 'परावर' परमात्मा का जब कि "यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् स्युष्टे सत्या इहाशिषः।" ऋग्वेद—हे अग्ने! मैं तू हो जाऊँ या तू मैं हो जाऊँ तब कहीं जाकर तेरे आशीर्वाद सफल हों, इस प्रकार अथवा "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वा त्वमसि" "हे देवते जो तू पर है वही मैं अवर हूँ तथा जो मैं अवर हूँ वही तू पर है" इस प्रकार व्यतिहार से हाथ पर रक्खे हुये आमले की तरह साक्षात् दर्शन मिल जाता है, तब उस साक्षात्-कारी अधिकारी की वह हृदय की ग्रन्थि—जिसके कारण चैतन्यरूप साक्षी और जडरूप अहंकार का परस्पर तादात्म्य सा हो गया था, जिसको अनिर्वचनीय माया की आवरण शक्ति ने उत्पन्न किया था, स्वयमेव खुल जाती है। उस ग्रन्थि के खुलते ही, यह ब्रह्म मेरा ही आत्मा है या नहीं, ब्रह्म होने पर भी उसके शुद्ध स्वरूप का मैंने साक्षात्कार किया या नहीं, साक्षात् कर लेने पर भी अभी मुझे कुछ और करना शेष है या नहीं, कर्तव्य शेष न रहने पर भी मुझे जीव-न्मुक्ति प्राप्त हुई या नहीं, जीवन्मुक्ति हो जाने पर भी वर्तमान

देहपात के अनन्तर मुझे विदेह मुक्ति मिलेगी या नहीं, विदेह मुक्ति मिलने पर भी कालान्तर में मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं, इत्यादि कुछ भी सन्देह शेष नहीं रह जाता। संशयनाश का बहाना मिलते ही उस ज्ञानी के कोटिसहस्र जन्मों में संचित पुण्य अपुण्य या मिश्रित सम्पूर्ण अनारब्ध कर्म, परावरदर्शनरूपी अग्नि की प्रचण्डज्वालाओं से भस्मसात् हो जाते हैं। केवल प्रारब्ध कर्म ही भोगने को शेष रहते हैं। ज्ञानी का प्रारब्ध शेष रह जाता है यह बात अज्ञानी दृष्टि के आधार से कही है गम्भीर विचार करने पर तो शरीराभिमान से रहित इस अधिकारी को जब प्रत्येक बाह्य पदार्थ में भी समाधि होने लगती है, तब प्रारब्ध कर्मों का भोग भी उसकी दृष्टि में कुछ नहीं रहता। लौकिक दृष्टि के प्रारब्ध सुख दुःख भी तो उसकी समाधिभूमि ही के अंग बन जाते हैं। उस अनुपम अनन्त तथा अपरिछिन्न अवस्था का वर्णन सान्त तथा परिछिन्न शब्दों जैसे क्षुद्रसाधनों से पूरी सफलता के साथ हो ही नहीं सकता। इस प्रकरण में कहने का तात्पर्य तो केवल इतना ही है कि फिर उस ज्ञानी के आरब्ध और अनारब्ध सम्पूर्ण कर्म ही क्षीण या हतवीर्य हो जाते हैं। वह तो ज्ञान होते ही मुक्त हो जाता है। अनेक श्रुतियों से इसी बात का अनुमोदन किया गया है "तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मुनरभव सूर्यश्च" "ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति" ब्रह्मविदाप्नोति परम्" "तरति शोकमात्मवित्" "अभयं वै जनक प्राप्तोसि" "एतावदरे खल्वमृतत्वमिति" "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" "तमेव विद्वान मृत इह भवति" इसी बात को जान कर ऋषि वामदेव इस निश्चय पर पहुँचा था कि मैं ही मनु हुआ था और मैं ही सूर्य हूँ। ब्रह्म को जाने तो ब्रह्म ही हो जाय, ब्रह्मज्ञानी पुरुष 'पर' को प्राप्त कर लेता है। आत्मज्ञानी पुरुष शोकनदी को पार कर चुकता है। हे जनक, इतना जान चुकने पर अब तुम अभय पद को प्राप्त होगये हो। अरे अमरभाव तो इतना ही है जितना कि हम ऊपर बता चुके हैं। केवल

उसी को जानकर जन्म मरण के चक्कर को टाला जा सकता है। उसको इस रूप में पहचान चुकने वाला पुरुष इसी जन्म में अमर हो जाता है।

अब ग्रन्थ की समाप्ति तक यह बताया जायगा कि ऊपर कहा हुआ साक्षी ही जब उपाधि के वस में आ सा जाता है तो 'जीव' हो जाता है नहीं तो स्वभाव से तो वह 'ब्रह्म' है ही।

अवच्छिन्नश्चिदाभासस्तृतीयः स्वप्नकल्पितः।
विज्ञेयस्त्रिविधोजीवस्तत्राद्यः पारमार्थिकः ॥३२॥

'अवच्छिन्न' 'चिदाभास' तथा 'स्वप्नकल्पित' इन तीन प्रकार का जीव होता है; उनमें से केवल एक पहला (अवच्छिन्न) ही पारमार्थिक होता है।

सर्वत्र परिपूर्ण परब्रह्म में जब अविद्या और अहंकारादि से अवच्छेद कर लिया जाता है तब वह साक्षी चैतन्य ही पहला, 'अवच्छिन्न' जीव कहाता है। चेतन के लक्षणों से हीन होने पर भी चेतन की तरह प्रतीत होने वाला, अहंकार में अन्तःकरण में अथवा लिङ्गशरीर में प्रतिबिम्बित जो चैतन्य है वही "चिदाभास" नाम का दूसरा जीव कहाता है। स्वप्नावस्था में नर, पशु, पक्षी आदि अनेक शरीरों को धारण करके सम्पूर्ण दिशाओं में जो भ्रमण किया करता है वही तीसरा 'स्वप्नकल्पित' जीव कहाता है। इन तीनों जीवों में अवच्छिन्न नाम का पहला साक्षी जीव ही परमार्थभूत है, वही ब्रह्म है।

अवच्छेदः कल्पितः स्यादवच्छेद्यं तु वास्तवम्।
तस्मिन् जीवत्वमारोपाद् ब्रह्मत्वं तु स्वभावतः ॥३३॥

अवच्छेद (सम्बन्ध) तो कल्पित होता है, और अवच्छेद्य वास्तव ही होता है। उस अवच्छिन्न साक्षी में जो जीवभाव है वह तो आरोप (भ्रम) से है परन्तु उसमें ब्रह्मत्व तो स्वभाव से ही रहता है।

आकाश में जैसे तलमलिनता आदि का अध्यास हो जाता है उसी तरह, उस ब्रह्मरूप साक्षी में अविद्या और अहंकार के प्रताप से अवच्छेद (परिच्छेद) हो गया है। जभी तो सुषुप्ति काल के आने पर जब कि अहंकार का लय हो जाता है तब "मैं अविद्यावच्छिन्न हूँ, मैं अहंकारावच्छिन्न हूँ" इस प्रकार के दोनों अवच्छेदों का अभिमान नहीं रहता और तब केवल साक्षी चैतन्य ही शेष रह जाता है। अविद्या और अहंकार से परिच्छिन्न होनेवाला जो साक्षिचैतन्य है वह तो तीनों कालों, जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं, तथा जन्मादि तीनों गतियों में एक समान ही रहता है। जब कि काल अवस्था और गति आदि भी नहीं रहते तब भी वह उसी रूप में रहता है। भूगर्भ में जलती हुई अग्नि की ज्वालायें जिस प्रकार ज्वालामुखियों के द्वारा प्रकट हुआ करती हैं, इसी प्रकार उस साक्षी का चैतन्य भी इन अवस्थाओं का, इन गतियों का तथा इन कालों का बहाना ले लेकर कभी कभी क्षुद्ररूपों में प्रकट हुआ करता है। इसलिये सदा एकरस रहनेवाला वह साक्षी ही वास्तव और सत्य है। इसी से कहा जाता है कि ऐसे उस महामहिम साक्षी में चिदाभास की सहायता से, अहंकार और साक्षी का परस्पर अन्योन्याध्यास हो जाने पर ही जीवभाव का उदय हो जाता है। उस साक्षी में ब्रह्मरूपता तो स्वभाव से बनी ही रहती है, उसे किसी भी क्रिया से सिद्ध नहीं करना होता। ऐसी प्रतीति हो जाने पर ही वह बिचारा अवच्छिन्न जीव ही अनवच्छिन्न ब्रह्म हो जाता है। इसमें आश्चर्य ही क्या है?

अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम्।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगु र्नेतरजीवयोः ॥३४॥

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य इस अवच्छिन्न जीव की ही पूर्ण ब्रह्म के साथ एकता का प्रतिपादन करते हैं। दूसरे 'व्यावहारिक' या 'प्रातिभासिक' जीव की एकता को वे नहीं कहते।

अविद्या और अहंकार से अवच्छिन्न हो जाने के कारण ही वह परमार्थिक जीव सद्वितीय सा प्रतीत होने लगता है। अविद्या के आश्रय तथा देश कालादि से अमर्यादित उस, पूर्ण परमात्मा के साथ उस अवच्छिन्न जीव की ही एकता का निर्देश "तत्त्वमसि" 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्माब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य कर रहे हैं। अर्थात् लक्षणावृत्ति का आश्रय लेकर तात्पर्यरूप में उन दोनों के ऐक्य का ही बोध वे करा रहे हैं। 'चिदाभास' ओर 'स्वप्नकल्पित' जीव की ब्रह्म के साथ एकता का बोध कराने में उनका तात्पर्य नहीं है। क्योंकि वे दोनों माया के कार्य होने से अवस्तु हैं। उन दोनों के साथ वस्तुभूत ब्रह्म का योग होना असम्भव है।

ब्रह्मण्यवास्थिता माया विक्षेपावृतिरूपिणी।
आवृत्याखण्डतां तस्मिन् जगज्जीवौ प्रकल्पयेत् ॥३५॥

ब्रह्म में स्थित विक्षेप और आवरणशक्ति वाली माया ने पहले तो उस ब्रह्म की अखण्डता का आवरण किया है और पीछे से उस ब्रह्म में जगत् और जीव की कल्पना कर डाली है।

सत्यादि स्वरूप वाले ब्रह्म में रहने वाली, आवरण तथा विक्षेप नामक दोनों शक्तियों वाली, वह अनिवर्चनीय माया पहले तो अपने ही आश्रयभूत ब्रह्म की अखण्डता को ढक डालती है, उसके अनन्तर अवच्छेद में आये हुये साक्षी स्वरूप उस ब्रह्म में पूर्वोक्त प्रकार से जीव और जगत् की इस अद्भुत सृष्टि को क्षणभर में रच देती है।

जीवो धीस्थश्चिदाभासो भवेद्भोक्ताहि कर्मकृत्।
भोग्यरूपमिदं सर्वं जगत्स्याद्भूतभौतिकम् ॥३६॥

बुद्धि में स्थित जो चिदाभास है क्योंकि वही भोक्ता है और वही कर्मों का करने वाला भी है इससे उसी को 'जीव' कहते हैं। भोग्यरूपी ये सब भूतभौतिक पदार्थ 'जगत्' कहाते हैं।

अर्थ और काम के उपयोगी कृषि व्यापार, युद्ध तथा अध्ययनादि करनेवाला, धर्मोपयोगी वापी, कूप, तडाग तथा यज्ञादि करनेवाला और मोक्ष के साधन श्रवणमननादि को करने वाला तथा अपने उपार्जन किये हुए ऐहिक और आमुष्मिक फलों को भोगने वाला जो बुद्धिस्थ चिदाभास है वही तो ब्रह्माश्रित माया से कल्पित किया हुआ 'जीव' है भोग्यरूप को धारण करनेवाले ये सब भूतभौतिक पदार्थ ही 'जंगत्' कहाते हैं।

अनादिकालमारभ्य मोक्षात्पूर्वमिदं द्वयम् ।
व्यवहारे स्थितं, तस्मादुभयं व्यावहारिकम् ॥३७॥

अनादिकाल से लेकर मोक्ष होने तक ये दोनों जीव और जगत् व्यवहार में बने ही रहते हैं। इसीलिये ये दोनों 'व्यावहारिक' कहे जाते हैं।

अनादिकाल से लेकर (जब तक कि वर्तमान देह का नाश होकर विदेह मुक्तिकी प्राप्ति हो ऐसे) मोक्ष की प्राप्ति होने से प्रथम प्रथम व्यवहारकालपर्यन्त ये (जीव और जगत्) दोनों ही बने रहते हैं। इसी लिये इन दोनों को 'व्यावहारिक' ही कहा जाता है। इनको 'पारमार्थिक' या 'प्रतिभासिक' कहना युक्तिसङ्गत नहीं होता।

जीव की माया जो निद्रा है वह भी नये जीव और नये जगत् बना लेती है फिर ब्रह्म की माया जगत् बना लेती हो इसमें क्या आश्चर्य है ? यह अगले प्रकरण में समझाया गया है।

चिदाभासस्थिता निद्रा विक्षेपावृतिरूपिणी ।
आवृत्य जीवजगती पूर्वे नूत्ने तु कल्पयेत् ॥३८॥

चिदाभास (व्यावहारिक जीव) में रहने वाली विक्षेपरूप और आवरणरूप जो निद्रारूपी अविद्या है वह भी पहले (व्यवहारकाल के) 'जीव' का और पहले 'जगत्' का आवरण करके दूसरे नये ही 'जीव' और नये ही 'जगत्' की कल्पना कर लेती है।

व्यावहारिक जीव कहो या चिदाभास कहो उसमें रहनेवाली जो, आवरण और विक्षेप इन दो शक्तियों से युक्त, अज्ञानरूप यह प्रसिद्ध नींद है, यह अपनी आवरणशक्ति के प्रभाव से यह करती है कि जाग्रत काल के व्यावहारिक जीव और व्यावहारिक जगत् को ढक देती है, और फिर वही नींद अपनी दूसरी विक्षेप शक्ति के प्रभाव से (जाग्रतकाल के व्यावहारिक जीव और जगत् से नये ही तरह के) प्रातिभासिक जीव और जगत् की कल्पना कर लेती है। जैसे निद्रा चिदाभास के आश्रय से रहती है, इसी तरह माया भी ब्रह्म के आश्रय से रहती है। जैसे कि निद्रा की आवरण और विक्षेप नामकी दो शक्तियें हैं इसी तरह माया में भी ये दोनों शक्तियें विद्यमान हैं। जिस प्रकार कि सुपने के जीव और जगत् निद्रा से उत्पन्न होते हैं उसी तरह व्यावहारिक जीव और जगत् भी माया से ही उत्पन्न हुए हैं। जिस प्रकार निद्रावच्छिन्न चिदाभास का स्वरूप सुपने के प्रतिभासिक जीव और सुपने के जगत् की कल्पना का अधिष्ठान है इसी प्रकार मायावच्छिन्न साक्षी नामक ब्रह्म का स्वरूप भी व्यावहारिक जीव और व्यावहारिक जगत् की कल्पना का अधिष्ठान है। निद्रा के इस सर्वतोभद्र दृष्टान्त से पैंतीसव श्लोक में वर्णित ब्रह्म में रहनेवाली माया की कल्पना युक्तियुक्त हो जाती है। इसी दृष्टान्त के रहते हुए इस प्रकार के संशय करने का कोई प्रसंग ही नहीं रहता।

प्रतीतिकाल एवैते स्थितत्वात्प्रातिभासिके।
न हि स्वप्नप्रबुद्धस्य पुनः स्वप्ने स्थितिस्तयोः ॥३९॥

सुपने के वे जीव और जगत् केवल प्रतीतिकाल में ही रहने से 'प्रातिभासिक' कहाते हैं। क्योंकि एक स्वप्न से जागा हुआ पुरुष जब दूसरा स्वप्न देखता है तो पहले सुपने के प्रतिभासिक जीव या जगत् नहीं रहते।

सुपने के ये जीव और जगत्, केवल प्रतीतिकाल में ही रहते हैं इस कारण 'प्रातिभासिक' कहे जाते हैं। क्योंकि पहले दिन स्वप्न देख कर जागने के बाद जब दूसरे दिन दूसरा नया ही स्वप्न देखा जाता है, तब पहले दिन के सुपने के कल्पित जीव और जगत् नहीं रहते। दूसरे दिन ही क्यों, उसी स्वप्न में थोड़ी ही देर में वे नष्ट हो जाते हैं। उनकी जगह उसी स्वप्न में कुछ और ही सृष्टि बनकर तैयार हो जाती है। स्वप्नान्तर में तो निश्चितरूप से ही उनमें से कोई भी नहीं रहता। किन्तु उनसे भिन्न दूसरे ही जीव और दूसरा ही जगत् उत्पन्न हो जाते हैं यों प्रत्येक स्वप्न में नये नये ही जीव और जगत् उत्पन्न होते रहते हैं। यही कारण है कि उन्हें 'प्रातिमासिक' कहा जाता है। (व्यवहार में न आ सकने के कारण) जब कि उनको 'व्यावहारिक' भी नहीं कहा जा सकता तो 'पारमार्थिक' कहना तो सर्वथा असङ्गत हो जाता है। केवल प्रतीतिकाल में ही रहने से स्वप्नकाल के जीव और जगत् को 'मिथ्या' कहा जाता है। इसी प्रकार व्यावहारिक जीव और जगत् भी अनादिकाल से लेकर मोक्ष से प्रथम ही प्रथम विद्यमान रहते हैं, मोक्ष के अनन्तर इनमें से कोई भी नहीं रहता, इसीलिये इनको भी 'मिथ्या' या 'बाधित' कहा जाता है। यह भी समझ लेना चाहिये।

प्रातिभासिकजीवो यस्तज्जगत्प्रातिभासिकम्।
वास्तवं मन्यतेऽन्यस्तु मिथ्येति व्यावहारिकः ॥४०॥

प्रातिभासिक जीव अपने उस प्रातिभासिक जगत् को सच्चा ही माने रहता है। परन्तु व्यावहारिक जीव तो उस प्रातिभासिक जगत् को 'मिथ्या' समझ लेता है।

स्वप्नकाल का वह प्रातिभासिक जीव सुपना देखते समय स्वप्न-कल्पित उस प्रातिभासिक जगत् को 'पारमार्थिक' ही माने रहता है। क्योंकि जब तक वह प्रातिभासिक जीव बना रहता है तब तक वह

प्रातिभासिक जगत् भी तो बना ही रहता है। परन्तु दूसरा जाग्रत्काल का व्यावहारिक जीव तो स्वप्नकाल के उन दोनों को 'मिथ्या' समझ लेता है, वह उन्हें वास्तव कभी नहीं मानता। क्योंकि स्वप्न देखने से प्रथम तथा स्वप्न देखने के पश्चात् जाग जाने पर वे प्रातिभासिक जीव या जगत् दोनों ही नहीं रहते।

व्यावहारिकजीवो यस्तज्जगद्व्यावहारिकम्।
सत्यं प्रत्येति, मिथ्येति मन्यते पारमार्थिकः ॥४१॥

इसी प्रकार व्यावहारिक जीव भी अपने उस व्यावहारिक जगत् को 'सत्य' ही माना करता है। परन्तु पारमार्थिक जीव तो उस व्यावहारिक जगत् को भी 'मिथ्या' ही समझ लेता है।

ऊपर के दृष्टान्त के अनुसार वह व्यावहारिक जीव भी (माया-कल्पित) उस व्यावहारिक जगत् को सत्य ही समझे रहता है उसको उस के मिथ्या होने का कभी सन्देह भी नहीं होता। क्योंकि व्यावहारिक जीव के साथ साथ वह व्यावहारिक जगत् भी बना ही रहता है। परन्तु उससे दूसरा वह पारमार्थिक जीव तो उस व्यावहारिक जगत् तथा उस जगत् के द्रष्टा चिदाभास दोनों को ही 'मिथ्या' समझ लेता है। क्योंकि नित्य प्रलय कहाने वाली सुषुप्ति अवस्था के आने पर, वे दोनों ही कुछ काल के लिये नहीं रहते। यह बात नित्य ही सर्वसाधारण के अनुभव में आती है। (वर्तमानदेहराहित्यरूपी) विदेहमुक्ति के प्राप्त होने पर तो उनकी प्रतीति सर्वथा ही बन्द हो जाती है। श्रुति और आचार्य के अनुभव के आधार से जब किसी को अपनी स्वभाव सिद्ध ब्रह्मात्मता का साक्षात् होता है और भाविदेह न मिलनेवाली जीवन्मुक्ति की प्राप्ति होती है, तब तो उन व्यावहारिक जीव और जगत् की प्रतीति कभी कभी (केवल भोगकाल में ही) होने लगती है। परन्तु वह अधिकारी श्रुति युक्ति तथा अनुभव के आधार पर उनकी

सत्ता के आत्यन्तिक नाश होजाने को श्रद्धा से मान लेता है। इसलिये कहते हैं कि प्रातिभासिक जीव और जगत् जैसे मिथ्या है उसी तरह व्यावहारिक जीव और जगत् भी मिथ्या रूप ही हैं।

पारमार्थिकजीवस्तु ब्रह्मैक्यं पारमार्थिकम् ।
प्रत्येति वीक्ष्यते नान्य द्वीक्षते त्वनृतात्मना ॥४२॥

पारमार्थिक जीव तो ब्रह्म के साथ एकता को ही 'पारमार्थिक' मानता है। वह और किसी को देखता ही नहीं। यदि कभी देखता भी है तो मिथ्यारूप से ही देखा करता है।

पारमार्थिक जीव तो विदेहमुक्ति के मिलने तक ब्रह्मैक्य को ही अपना पारमार्थिक स्वरूप समझ लेता है। अर्थात् वह समस्त भेदों से हीन बन्धमोक्षादि व्यवहारों से ऊपर उठे हुये सच्चिदानन्द स्वरूप साक्षी को ही अपना रूप माने रहता है। उसे तो और कुछ भी नहीं दीखता। यदि कभी (प्रारब्धवश भोगदायी कर्मों के उदय होने पर) उस ब्रह्मवित् की अपने स्वरूप से च्युति हो जाय और वह चिदाभास के आकार को धारण कर भी ले और व्यावहारिक जीव जगदादि को देखने भी लग पड़े तो भी वह उनको मिथ्या ही समझे रहता है। उसको इनमें कभी भी सत्यबुद्धि नहीं होती।

माधुर्यद्रवशैत्यानि नीरधर्मास्तरंगके ।
अनुगम्याथ तन्निष्ठे फेनेऽप्यनुगता यथा ॥४३॥
साक्षिस्थाः सच्चिदानन्दाः सम्बन्धाद्व्यावहारिके ।
तद्द्वारेणानुगच्छन्ति तथैव प्रातिभासिके ॥४४॥

जैसे लोक में 'मधुरता' 'द्रव' (पतलापन) तथा 'शीतलता' आदि जल के धर्म तरंग में आते हैं और फिर तरंग के द्वारा फेन में भी चले जाते हैं, इसी प्रकार साक्षी में रहने वाले 'सत्' 'चित्' 'आनन्द' भी

तादात्म्य सम्बन्ध से व्यावहारिक जीव में आते हैं और फिर उसके द्वारा प्रातिभासिक जीव में भी पहुँच जाते हैं। वायु के चलने से जब कि जल में कोई तरंग उत्पन्न होता है तो (जल का ही विवर्त होने के कारण जल में ही रहनेवाले) उस तरंग में जल की ही मधुरता जल की ही द्रवता तथा जल का ही शैत्य आ जाता है। फिर जब कि तरंग में भी कोई फेन उत्पन्न होजाता है (तो तरंग का विवर्त होने के कारण तरंग में रहने वाले) फेन (झाग) में तरंग की ही मधुरता द्रवता तथा शैत्य आजाते हैं। 'यह तरंग है, यह फेन है' ऐसा भेदव्यवहार होने पर भी जल तरंग तथा फेन इन तीनों का माधुर्य द्रव तथा शैत्य के अतिरिक्त और कुछ रूप ही नहीं है। पूर्व पूर्व का उत्तरोत्तर रूप में केवल विवर्त नाम का परिणाम होता जाता है। इसीलिये कहते हैं कि वे पूर्व पूर्व से भिन्न नहीं होते। उपर्युक्त, दृष्टान्त के अनुसार ब्रह्मरूप साक्षी में रहने वाले, सत्यज्ञान तथा आनन्द नाम के धर्म (तरंग में जल के गुणों के सम्बन्ध की तरह या फेन में तरंग के गुणों के सम्बन्ध की तरह) प्रथम तो व्यावहारिक जीव और व्यावहारिक जगत् में अनुगत होते हैं, उसके पश्चात् उसी परिपाटी से प्रातिभासिक जीव और प्रातिभासिक जगत् में भी पहुँच जाते हैं। तात्पर्य यह है कि तरंग के समान जो चिदाभास है उसमें रहनेवाले, सत् चित् आनन्द ही फेन के समान प्रातिभासिक जीव और जगत् में पहुँच जाते हैं। इसी लिये जिस प्रकार कि— प्रातिभासिक जीव और जगत् चिदाभास से भिन्न नहीं होते, अथवा जिस प्रकार (जल के माधुर्यादिगुण ही तरंग में आने के कारण) वह तरंग जल से कुछ भिन्न नहीं होता, ठीक इसी प्रकार जल के समान साक्षी में रहनेवाले, माधुर्यादिगुणों के समान सच्चिदानन्द गुण ही तरंग के समान चिदाभास और व्यावहारिक जगत् में सर्वत्र अनुगत हो रहे हैं। यही कारण है कि वह चिदाभास और जगत्, ब्रह्म नाम के साक्षी से भिन्न नहीं हुआ करते।

लये फेनस्य तद्धर्मा द्रवाद्याः स्युस्तरंगके।
तस्यापि विलये नीरे तिष्ठन्त्येते यथा पुरा ॥४५॥

जैसे लोक में जब फेन का लय हो जाता है तो उसके द्रव आदि धर्म तरंग में वापिस चले जाते हैं परन्तु जब कि तरंग का भी लय होने लगता है तो वे जल में ही रह जाते हैं जैसे कि वे तरंग के बनने से पहले रह रहे थे।

तरंग में से उत्पन्न हुआ फेन जब नष्ट होने लगता है तो उसकी मधुरता द्रवता तथा शैत्य (उसके अधिष्ठान) तरंग में ही लौट जाते हैं। इसी प्रकार जब कि (जल में उत्पन्न हुआ) तरंग नष्ट होने लगता है, तब वह भी अपने माधुर्यादि गुणों को जल में ही छोड़ जाता है। जल में से उत्पन्न होने, जल में ही निवास करने और नष्ट होने के समय जल में ही विलीन हो जाने के कारण ये तरंग और फेन किसी प्रकार भी जल से भिन्न नहीं हो सकते।

प्रातिभासिकजीवस्य लये स्युर्व्यावहारिके।
तल्लये सच्चिदानन्दाः पर्यवस्यन्ति साक्षिणि ४६॥

इसी प्रकार प्रातिभासिक जीव का लय होने पर (उसके) सत्, चित्, आनन्द धर्म व्यावहारिक जीव में चले जाते हैं। परन्तु जब कि उस व्यावहारिक जीव का भी लय होने लगता है तो उसके सत् चित् आनन्द नाम के धर्म साक्षी में ही पर्य्यवसन्न हो जाते हैं।

ऊपर कहे दृष्टान्त के अनुसार जब कि सुपने के प्रातिभासिक जीव और जगत् विलीन हो जाते हैं, तो उनमें के सत् चित् तथा आनन्द जाग्रत् संसार के संस्कारों वाले चिदाभास में ही (जिसको कि व्यावहारिक जीव भी कहते हैं) विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार जब कि उस चिदाभास और उसके साथी इस व्यावहारिक जगत् का भी, नित्य नैमित्तिक प्राकृतिक या आत्यन्तिक प्रलय हो जाता है तो उसके

सच्चिदानन्द धर्म भी (सकल संसार के मूलाधिष्ठान) साक्षी में ही पर्य-वसित हो जाते हैं—अर्थात् निरन्वय विनाश कहीं भी देखने में नहीं आता। सर्वानुगत सच्चिदानन्द धर्म सर्वथा नष्ट कभी नहीं होते। उस मूलाधिष्ठान साक्षी का कोई दूसरा अधिष्ठान न होने से यह लयपरम्परा यहीं समाप्त हो जाती है। वह साक्षी तीनों कालों में सद्रूप से ही विराज-मान रहता है। ये जीव जगदादि तो न सृष्टि के पूर्व ही थे और न प्रलय हो जाने के अनन्तर ही शेष रहते हैं। इसलिये सत् से उत्पन्न होने, सत् में ही जीवन धारण करने, और अन्त में सत् में ही विलीन हो जाने के कारण वास्तविक सत् नहीं कहे जा सकते। ब्रह्म से अभिन्न साक्षी ही इनका पारमार्थिक स्वरूप है—अर्थात् उससे भिन्न ये व्याव-हारिक जीव जगदादि कुछ हैं ही नहीं।

भय आदि से घबरायी हुई प्रजा जिस प्रकार राजा की शरण में जाती है और त्राण पाजाती है, इसी प्रकार प्रातिभासिक जीव को भी जब सुपने में अचानक चोर या व्याघ्रादि दीख पड़ते हैं तो वह भी भयभीत और शरणार्थी होकर निद्रा का आश्रय जो चिदाभास है, उसकी शरण में जाना चाहता है, तब जागरण नाम की प्रबोध अवस्था आजाती है, उस समय वह प्रातिभासिक जीव, सुपने के कल्पित भय आदि से त्राण पा जाता है। सुपने का जो प्रातिभासिक जीव था उसको अपने वास्तविक स्वरूप चिदाभास का ज्ञान नहीं हुआ था इस कारण उसकी दृष्टि में चाहे समस्त प्रातिभासिक संसार बना भी रहो तो भी चोर या व्याघ्र आदि को देखकर जो प्रातिभासिक जीव अकस्मात् जागा है उस की दृष्टि में से आवरण और विक्षेप नाम की दोनों शक्तियों वाली निद्रा-रूपी माया समूल नष्ट हो चुकी है, इस कारण वह (निद्रा का आश्रय या निद्रावच्छिन्न इन सब विशेषों से रहित होकर एक रूप रह गये हुए) चिदाभास में ही—भृगुपतनादि* करने वालों की तरह अपना नाश

*असाध्य रोग वाले या घोर पाप करनेवाले पहाड़ आदि से कूद कर

करके भी, चिदाभास के निर्भय और उत्तम पद को पाने की इच्छा से सुपन के कल्पित प्रातिभासिक भोग्यरूप समस्त संसार को भी अपने ही साथ लेकर आत्यन्तिक नाश को प्राप्त हो जाता है। इस विचारे स्वप्नकल्पित प्रातिभासिक जीव का तो यही एक परम पुरुषार्थ है कि उस का जो अपना वास्तविक रूप चिदाभास पद है जागने के द्वारा उसको प्राप्त कर लिया जाय। इस पद को पाने में जागरण नाम के प्रबोध के अतिरिक्त उसे किसी भी और साधन का अनुष्ठान करना नहीं पड़ता। ऊपर के दृष्टान्त के अनुसार, जिन दूसरे व्यावहारिक जीवों को अभी तक अपने स्वरूप सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मत्व का बोध नहीं हो पाया है उन व्यावहारिक जीवों की दृष्टि में चाहे सकल संसार पहले की तरह बना ही रहो, परन्तु जब कोई व्यावहारिक जीव इस संसारसागर की दुःखदायी लहरों से अत्यन्त दुःखी हो जाता है और उस (चिदाभास या व्यावहारिक जीव) के कोटि जन्मों के पुण्य फलद्रूपता को धारण कर लेते हैं और अकस्मात् ही चोर या व्याघ्र आदि के सम्मुख आजाने के समान श्रुति और आचार्य कृपालु हो जाते हैं और वह चोर या व्याघ्र आदि के दर्शन के समान श्रवण और मननादि कर डालता है तब उस माया-वच्छिन्न का पूर्ण ब्रह्म के साथ एकतारूपी अलौकिक जागरण हो जाता है। उस समय उसकी अपनी दृष्टि में दोनों शक्तियोंवाली माया अत्यन्त नाश को प्राप्त हो जाती है। इस कारण वह माया का आश्रय या माया से अवच्छिन्न इत्यादि सभी विभागों से रहित हो जानेवाले सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्मात्मा में, देवत्व की कामना से अग्नि में प्रवेश कर जाने वालों की तरह—साक्षिमात्र शेष रह जाने की अलौकिक इच्छा से प्रेरित होकर ब्रह्मदर्शन होने से लेकर विदेहमुक्ति होने तक; ज्ञान की बढ़ती हुई अवस्था के अनुसार धीरे धीरे करके सदा के लिये सच्चिदानन्दरूप

या जल आदि में डूब कर देह त्याग करके अपने रोग या पाप का प्रायश्चित्त करते हैं। यही भृगुपतन कहाता है।

परब्रह्म में विलीन होजाता है। परब्रह्म में विलीन होते हुए इस व्यावहारिक जीव के साथ ही इस व्यावहारिक समस्त प्रपंच का भी विलय हो जाता है।

इस व्यावहारिक जीव का तो यही परम पुरुषार्थ कहाता है कि वह अपने अधिष्ठानभूत ब्रह्मरूप साक्षी के स्वरूप को ज्ञान के द्वारा प्राप्त कर ले। इस परमपावन पद को पाने के लिये ब्रह्मविद्या नाम के प्रबोध के अतिरिक्त और किसी भी साधन का अनुष्ठान करना शेष नहीं रहता। "देवत्वकामा अग्न्यादौ प्रविशन्ति यथा तथा, साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वांछति। यावत्स्वदेहदाहः स्यान्नरत्वं नैव मुंचति, यावदारब्धदेहः स्यान्नाभासत्वविमोचनम्।" जिस प्रकार देवत्व की कामना करने वाले याज्ञिक लोग अपने इस मर्त्य देह से छुटकारा पाने के लिये, जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं, इसी प्रकार वह चिदाभास या व्यावहारिक जीव भी, साक्षिमात्र शेष रह जाने की लोकोत्तर इच्छा के वशीभूत होकर, अपने संकुचित (चिदाभास) स्वरूप को नष्ट कर देना चाहता है। परन्तु जिस प्रकार जब तक देवत्व की कामना वाले का यह मर्त्यशरीर पूरा पूरा जल नहीं चुकता तब तक उसका मनुष्यत्व बना ही रहता है। इसी प्रकार जब तक यह प्रारब्ध देह बना रहता है, तब तक आभासपने से उसका पूरा पूरा छुटकारा नहीं हो पाता। सिद्धान्त यह है कि इस चिदाभास को उत्पन्न हुई भ्रान्ति या विवेक नित्यमुक्त साक्षी में अध्यस्त ही रहते हैं, वस्तुतः नहीं होते। क्योंकि भ्रान्ति या विवेक भी तो भोग के ही अवान्तर भेद हैं। इसीलिये ये दोनों भी भोक्ता चिदाभास में ही रहते हैं। साक्षिता का भी यही हाल है वह भी उसमें वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह साक्षिता भी साक्ष्य चिदाभास की अपेक्षा से ही तो होगी। जब कि वह साक्ष्य चिदाभास ही वास्तविक नहीं है तो फिर साक्षिता को ही वास्तविक क्योंकर कहा जाय। वह साक्षिता तो निस्तरंग महोदधि के समान जो चिदम्बुधि है उसको अज्ञानियों को

समझाने के लिये साधन के रूप में कल्पित कर ली गई है। तात्पर्य यही हुआ कि व्यावहारिक दृष्टि के अनुसार तो वह माया का आश्रय भी है, माया और अहंकार से अवच्छिन्न भी है, नामरूप के साथ तादात्म्य हो जाने पर भोग्य भी है, अन्तःकरण में प्रतिफलित होकर चिदाभास-स्वरूप धारण कर लेने के कारण कर्त्ताभोक्तारूपी संसारी भी बन गया है, परन्तु ज्यों ही उसे अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाता है त्यों ही वह "तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति" इत्यादि श्रुतियों के कहने के अनुसार ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला भी हो जाता है, ब्रह्माभ्यास को बढ़ा कर जीवन्मुक्ति का महालाभ भी कर लेता है और विदेहमुक्ति के परमपावन पद को भी पा लेता है। परन्तु जब कि परमार्थ का विचार किया जाता है तो केवल एक ही निश्चय हाथ लगता है कि—न बन्धन है और न मोक्ष है, न साधन है और न साधक है, अखण्ड अद्वैत चैतन्य ही सर्वथा भासित हो रहा है, वही अविद्या है और वही विद्या है, वही बन्धन है वही मोक्ष है और वही मोक्ष का साधन भी है—अर्थात् वह तो मायाश्रयत्वादि से लेकर विदेहमुक्तिपर्यन्त सकल व्यवहारों से बाहर रहता है। वह तो प्रत्यगभिन्न सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय अवाङ्मनसगोचर तत्व है। उपर्युक्त कृत्रिम बद्धमुक्तव्यवस्था का सहारा लेकर ही मोक्षशास्त्रों ने सफलता का लाभ किया है, जो कुछ ज्ञेय है वह इतना ही है और कुछ नहीं है।

'वाक्यसुधा' नाम के इस प्रकरणग्रन्थ का तथा सम्पूर्ण शास्त्रों का पिण्डीकृत महातात्पर्य भी यही है। इसे उत्तम रीति से जान लेने पर फिर कभी शोक करने का प्रसङ्ग ही नहीं आवेगा।

इति श्रीमद्भारतीतीर्थमुनिविरचिता
वाक्यसुधा सम्पूर्णा

ओम्

योगतारावली

(शंकराचार्य)

जिनके पाप अभी शेष हैं, परन्तु सुदैव से राजयोग में रुचि होगयी है उनको 'लययोग' तथा 'हठयोग' में से राजयोग की सिद्धि के लिये कितनी सहायता ले लेनी चाहिये, सो इस ग्रन्थ में देखने को मिलेगा ।

राजयोग कर सकने के लिये जिस शांत वातावरण की आवश्यकता है इस ग्रन्थ में लिखित अभ्यास करने से वैसा वायुमण्डल तैयार किया जा सकता है ।

ओम्

श्रीमच्छङ्कराचार्यप्रणीता

योगतारावली

वन्दे गुरूणां चरणारविन्दे,
सन्दर्शितस्वात्मसुखावबोधे ।
जनस्य ये जाङ्गलिकायमाने,
संसारहालाहलमोहशान्त्यै ॥१॥

गुरु के जिन चरणकमलों ने ज्ञानसुखस्वरूप आत्मा का दर्शन कराया है, तथा जिन्होंने संसार को बनानेवाले मेरे विषरूपी मोह को शांत करने में विषवैद्य का काम किया है, उन चरणकमलों को मैं प्रणाम करता हूँ।

सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥२॥

यद्यपि सदाशिव के कहे हुए लय के सवा लाख साधन लोक में हैं, परन्तु मैं तो उन सब में से एक नादानुसन्धानसमाधि ही को अत्यन्त मान के योग्य समझता हूँ ।

सरेचपूरै रनिलस्य कुम्भैः,
सर्वासु नाडीषु विशोधितासु ।
अनाहताख्यो बहुभिः प्रकारै-
रन्तः प्रवर्तेत सदा निनादः ॥३॥

रेंचक, पूरक और कुम्भक नाम के प्राणायामों से जब सब नाडियें शुद्ध हो जाती हैं तब अनाहतनाद शरीर के अन्दर अनेक प्रकारों से सदा ही सुनाई पड़ने लगता है ।

नादानुसन्धान ! नमोस्तु तुभ्यं
त्वां साधनं तत्त्वपदस्य जाने ।
भवत्प्रसादा त्पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥४॥

हे नादानुसन्धान ! तुझको मेरा बार बार नमस्कार हो, क्योंकि मैं तुम्हें तत्त्वपद की प्राप्ति का एक उत्तम साधन समझ गया हूँ। तेरा अनुग्रह होने पर मेरा मन प्राण को भी अपने साथ लेकर विष्णुपद (ब्रह्मरन्ध्र) में लीन हो जाता है ।

जालन्धरोड्याणनमूलबन्धान्,
जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूलान् ।
बन्धत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने,
बन्धः कुतो दारुणकालपाशात् ॥५॥

जालन्धर, उड्यान तथा मूलबन्ध* ये तीनों बन्ध क्रम से कण्ठ,

---

*मूलबन्ध—सिद्धासन लगाकर गुदा को सिकोड़कर अपानवायु को ऊपर को खेंचे रहो। यह मूलबन्ध कहाता है, गुदा का बारबार तथा अनवरत संकोच ही इस मूलबन्ध का प्रधान अंग है। इसके अभ्यास से अपान और प्राणवायु का ऐक्य हो जाता है ।

जालन्धर—ठोड़ी को कण्ठ के नीचे के गड्ढे में जमाकर छाती को ज़ोर से दबाना चाहिये, कि कण्ठमणि का दीखना बन्द होजाय, इसको जालन्धर बन्ध कहते हैं, इससे मृत्यु का क्षय होजाता है। छः मास तक अभ्यास करने से इसकी सिद्धि होजाती है।

उड्डियान—नाभि को पीठ की तरफ़ को सिकोड़कर कि पेट भीतर

उदर तथा गुदा के मूल में होते हैं, इन तीनों बन्धों के सिद्ध होजाने पर दारुण कालपाश तक का बन्धन नहीं रह जाता।

ओड्याणजालन्धरमूलबन्धै,
रुन्निद्रितायां मुरगाङ्गनायाम्।
प्रत्यङ्मुखत्वा त्प्रविशन्सुषुम्नां,
गमागमौ मुञ्चति गन्धवाहः ॥६॥

उड्यान, जालन्धर और मूलबन्ध इनके करने से जबकि कुण्डलिनी जाग जाती है तो प्राण (पर कुछ ऐसा अद्भुत प्रभाव होता है कि वह) प्रत्यङ्मुख होजाने के कारण सुषुम्ना में प्रवेश करने लगता है और आना जाना छोड़ देता है अर्थात् वाम दक्षिण नासिकावाले अपने स्वाभाविक मार्ग को त्याग देता है।

उत्थापिताधारहुताशनोल्कैः
राकुञ्चनैः शश्वदपानवायोः।
सन्तापिताच्चन्द्रमसः पतन्तीं,
पीयूषधारां पिबतीह धन्यः ॥७॥

ऊपर को उठाये हुए आधार से उत्पन्न हुई गरमी की लपटों से तथा अपानवायु के निरन्तर आकुंचन करते रहने से जब चन्द्रमण्डल तपता है तब वहाँ से जो अमृत की धार टपकती है उसे तो कोई धन्य ही पान करता है।

जबकि मूलबन्ध के द्वारा अपानवायु बंद हो जाती है, जब उसका अधोमार्ग बंद हो जाता है और वह भीतर की तरफ़ संकुचित होकर

घुस जाय नाभि को ऊपर उठाया जाय कि हृदयकमल हृदय में खिल उठे इसको 'उडियान बन्ध' कहते हैं यह बन्ध नाभि से नीचे स्वाधिष्ठान-चक्र बस्तिस्थान के ऊपर बनता है। सिद्ध होने पर यह बन्ध मुक्ति के मार्ग को सरल कर देता है इससे भी मृत्यु का क्षय होता है।

घुटने लगती है, उसके घुटते ही मूलाधार में एक प्रकार की गरमी पैदा होजाती है। इस क्रिया के साथ ही जबकि वह अभ्यासी अपानवायु को भी निरन्तर ऊपर को आकर्षण करता रहता है तो अग्नि और वायु का मेल होते ही उस मूलाधार में से अग्नि की ज्वालायें उठने लगती हैं (जोकि एक प्रकार का गरम वायु ही होती हैं जिन्हें आध्यात्मिक भाषा में सूर्य भी कहा जासकता है) जोकि बढ़ते बढ़ते सीधी ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाती हैं तब तो ब्रह्मरन्ध्रनिवासी चन्द्रमा (जोकि एक प्रकार का शीतल वायु है) में एक विचित्र सन्ताप पहुँचता है। इन सूर्य, चन्द्र नाम के उष्ण तथा शीतल वायुओं का परस्पर मेल होते ही उस चन्द्रमण्डल में से अमृतबिन्दु टपकने लगता है इस अमृतबिन्दु को पीने का सौभाग्य तो किसी धन्य पुरुष के ही हाथ लगता है।

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां,
विवर्जितां रेचकपूरकाभ्याम्।
विशोषयन्तीं विषयप्रवाहं,
विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम् ॥८॥

तीनों बन्धों के अभ्यास के पकने पर पैदा होनेवाली विषयनदी के झरने को सुखाती हुई केवल कुम्भक नाम की विद्या का भजन करता हूँ जिसमें रेचक पूरक नहीं होते।

अनाहते चेतसि सावधानै-
रभ्यासशूरै रनुभूयमाना।
संस्तम्भितश्वासमनःप्रचारा,
सा जृम्भते केवलकुम्भकश्रीः ॥९॥

अनाहतचित्त में सावधान रहनेवाले अभ्यासी लोग ही जिसका अनुभव ले सकते हैं जो श्वास और मन के प्रचार को रोक देती है ऐसी कुम्भकश्री बड़ी ही शोभित होती है।

सहस्रशः सन्तु हठेषु कुम्भाः,
सम्भाव्यते केवल कुम्भ एव।
कुम्भोत्तमे यत्र तु रेचपूरौ,
प्राणस्य न प्राकृतवैकृताख्यौ ॥१०॥

हठयोग में भले ही हज़ारों कुम्भक हों परन्तु यह केवल कुम्भक ही सर्वोत्कृष्ट कुम्भक है । इस उत्तम कुम्भक के सिद्ध होजाने पर तो प्राण के प्राकृत या वैकृत (स्वभाव से या यत्न से होनेवाले) दोनों प्रकार के रेचक, पूरक स्वयमेव बन्द हो जाते हैं ।

त्रिकूटनाम्नि स्तिमितेऽन्तरङ्गे,
खे स्तम्भिते केवलकुम्भकेन।
प्राणानिलो भानुशशाङ्कनाड्यौ,
विहायसद्यो विलयं प्रयाति ॥११॥

जब त्रिकूट (नामक भ्रुकुटी के मध्यस्थान) में अन्तरंग (मन) को निश्चल (करके खड़ा) कर दिया जाता है तथा जब केवल कुम्भक से मन को ख (अर्थात् आत्मा) में स्तम्भित कर दिया जाता है तब (प्राण-वायु पर उसका ऐसा प्रभाव पड़ता है कि) वह प्राणवायु दक्षिण और वाम नासिका में रहनेवाली, पिङ्गला और इडा नाम की सूर्य और चन्द्र नाडियों को त्यागकर (बिल का मार्ग बंद होजाने पर अन्दर ही अन्दर घुटकर मरे हुए बिलवासी जीवों की तरह) तत्काल ही विलीन होजाता है।

प्रत्याहृतः केवलकुम्भकेन,
प्रबुद्धकुण्डल्युपभुक्तशेषः ।
प्राणः प्रतीचीनपथेन मन्दं,
विलीयते विष्णुपदान्तराले ॥१२॥

जब प्राणवायु को केवल कुम्भक से प्रत्याहृत किया (सकोड़ा) जाता

है और जबकि वह प्राणवायु उद्बुद्ध जगदम्बा कुण्डलिनी (शक्ति के तपी हुई भट्टी के समान तेजोमय अंगों में होकर निकलता अर्थात् उस) के उपभोग से भी बच रहता है तो उस समय (गरमी के कारण अतिसूक्ष्म हुआ) वह प्राणवायु, (अपने दोनों स्वाभाविक मार्गों [वामदक्षिण नासिका] के रुक जाने के कारण—दोनों मार्गों के रुक जाने पर किसी तीसरे मार्ग को ढूँढ लेनेवाले सर्पादि की तरह—तीसरा मार्ग ढूँढने के लिये व्याकुल होजाता है। इतने ही में उसे एक सुषुम्नानामक सूक्ष्ममार्ग दिखाई दे जाता है। बस शनैः शनैः) उसी पश्चिम मार्ग (मेरुदण्ड—पीठ की हड्डी में रहनेवाली सुषुम्ना) के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में (जाकर) विलीन होजाता है।

वहां तो चन्द्रामृत भरा रहता है। यह गरम वायु वहां जाकर वहां की लोकोत्तर शीतलता का स्पर्श पाते ही एक दम विलीन हो जाता है। देखते हैं कि ठण्डे प्रदेश में पहुंचते ही वायु स्तब्ध हो जाता है।

निरङ्कुशानां श्वसनोद्गमानां,
निरोधनैः केवलकुम्भकाख्यैः।
उदेति सर्वेन्द्रियवृत्तिशून्यो,
मरुल्लयः कोऽपि महामतीनाम् ॥१३॥

जब कि इन निरंकुश श्वासगतियों को केवल कुम्भकों के द्वारा रोका जाता है, तो महामति पुरुषों का प्राणवायु कुछ ऐसे अद्भुत प्रकार से विलीन होता है, कि फिर इन्द्रियों के सम्पूर्ण व्यापार भी स्वभाव से बन्द हो जाते हैं।

न दृष्टिलक्ष्याणि न चित्तबन्धो
न देशकालौ न च वायुरोधः।
न धारणाध्यानपरिश्रमो वा,
समेधमाने सति राजयोगे ॥१४॥

जबकि यह राजयोग अपने पूर्ण यौवन के उल्लास में आता है, तो साधक को न तो दृष्टि के कोई विशेष लक्ष्य ही रखने पड़ते हैं, न चित्त को रोकना ही होता है, न देशकाल की अनुकूलता ही मिलानी पड़ती है, न प्राणायाम की आवश्यकता ही रह जाती है, और न धारणा तथा ध्यान का परिश्रम ही शेष रह जाता है।

अशेषदृश्योज्झितदृङ्मयाना-
मवस्थितानामिह राजयोगे।
न जागरो नापि सुषुप्तिभावो,
न जीवितं नो मरणं विचित्रम् ॥१५॥

जो लोग सब दृश्यों से रहित केवल दृग्रूप होकर इस राजयोग में तन्मय होजाते हैं, उन पुरुषों को (उनके कोटिसहस्र जन्मों के पुण्यों के प्रताप से) कुछ ऐसी अद्भुत अवस्था हाथ लगती है कि फिर उसे न जागरण ही कहा जासकता है, और न सुषुप्ति ही, न उसे जीवन ही कह सकते हैं और न मरण ही कहते बनता है।

वह साधक विषयों को नहीं देखता इसी लिये उसे जागरण नहीं कह सकते। उस के शरीर को अहङ्कार धारण किये रहता है तथा उसे आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव रहता है इसलिये उस अवस्था को सुषुप्ति भी नहीं कह सकते। भोगोन्मुख कर्मों को भोगने के लिये शरीर का निवास जीवन कहाता है, भोगों को न भोगने के कारण उसे जीवन भी नहीं कह सकते। देहवियोग होने पर शरीर की विस्मृति मृत्यु कहाती है, देहवियोग न होने के कारण उसे मरण भी नहीं कहा जासकता। इस अद्भुत अवस्था का पूरा पूरा वर्णन तो किया ही नहीं जासकता।

अहंममत्वाद्यपहाय सर्वं,
श्रीराजयोगे स्थिरमानसानाम्।

न द्रष्ट्टता नास्ति च दृश्यभावः
सा जृम्भते केवल संविदेव ॥१६॥

(यह सम्पूर्ण द्रष्ट्टदृश्यभाव अहन्ता और ममता की पूंजी से ही चल रहा है) जबकि कोई अधिकारी इन सब अहन्ता और ममता आदि को छोड़कर राजयोग के साधन में दृढ निश्चय से तत्पर हो जाता है, तो यह द्रष्ट्टदृश्यभाव स्वयमेव बन्द हो जाता है और तब जो केवल संवित् नाम का तत्व है वह जगमगा उठता है।

नेत्रे ययोन्मेषनिमेषशून्ये,
वायुर्यया वर्जितरेचपूरः।
मनश्च सङ्कल्पविकल्पशून्यं,
मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम् ॥१७॥

जिस उन्मनी अवस्था के प्रताप से, नेत्र निमेष (बन्द होना) और उन्मेष (खुलना) को बन्द करदेते (और जैसे के तैसे जहां के तहां चित्रलिखित [तस्वीर उतारे हुए] की तरह स्तब्ध हो जाते) हैं, जिसके प्रताप से प्राण (अपनी चंचलता को छोड़ बैठता तथा) रेचक पूरक से रहित हो जाता है और मन भी उन सङ्कल्पविकल्पों से रहित हो जाता है (जब कि मन प्राण तथा इन्द्रिय जैसी जड़ वस्तुओं पर भी उसका इतना शान्त प्रभाव होता है, कि वे भी [अपनी अपनी विषमता को छोड़ कर] समता को प्राप्त हो जाते हैं, तो यह सब देख कर मेरा जी चाहता है कि) वैसी उन्मनी अवस्था मुझमें सदा ही रहने लगे।

चित्तेन्द्रियाणां चिरनिग्रहेण,
श्वासप्रचारे शमिते यमीन्द्राः

निवातदीपा इव निश्चलाङ्गा,
मनोन्मनीमग्नधियो भवन्ति ॥ १८ ॥

चित्त और इन्द्रियों को चिरकाल तक रोकते रोकते जब कि अन्त में श्वास का प्रचार (आना जाना) भी बन्द हो जाता है* तब ये योगी लोग वायुरहित प्रदेश में रक्खे हुए दीपक की तरह निश्चलशरीर हो जाते हैं और उनकी बुद्धियां मनोन्मनी अवस्था में डूब जाती हैं।

उन्मन्यवस्थाधिगमाय विद्व-
न्नुपायमेकं तव निर्दिशामः।
पश्यन्नुदासीनतया प्रपञ्चं,
सङ्कल्प मुन्मूलय सावधानः ॥१९॥

हे विद्वन्! इस उन्मनी अवस्था को पाने के लिये हम तुम को एक उपाय बताते हैं, कि तुम इस सकल प्रपञ्च को उदासीन होकर देखा करो और बड़ी सावधानी से सब सङ्कल्पों को समूल उखाड़ कर फेंक दो। (बस इसी से यह उन्मनी अवस्था हाथ आजायगी)।

प्रसह्य सङ्कल्पपरम्पराणां,
सम्भेदने सन्ततसावधानम्।

---

*जब कभी कोई अत्यन्त प्रसन्नता या अत्यन्त शोक की बात सुनते हैं और मन अवाक् रह जाता है तो कभी कभी बड़ी देर में एकाध लम्बा श्वास आता है। जिसका अभिप्राय यह है कि मन रुकने पर प्राण अपने आप ही खड़ा हो जाता है। इसीसे प्राण के सर्वथा रुक जाने का भी अनुमान बुद्धिमानों को कर लेना चाहिये। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। विचाराग्नि से श्वास भी पतला होते होते अन्त में नष्ट होजाता है जैसे कि अल्पजलाशय ग्रीष्मकाल में सूखते सूखते अन्त में नष्ट हो जाते हैं।

आलम्बनाशादपचीयमानं,
　　शनैः शनैः शान्तिमुपैति चेतः ॥२०॥

संकल्पों को हठात् नष्ट करने में निरन्तर सावधान रहनेवाला मन अपने आलम्बन के नष्ट होने से घटता घटता अन्त में धीरे धीरे शान्त ही होजाता है ।

जब तुम्हारा चित्त बड़ी तत्परता के साथ उद्योग करेगा तो अनादि काल से सञ्चित सङ्कल्पों के अनिवार्य बन्धन को भी सहज में काट सकेगा। विषयरूपी आलम्बन (भोजन) के न मिलने से उस चित्त के उपवास पर उपवास होने लगेंगे । इस प्रकार भोजनाभाव से धीरे धीरे सूक्ष्म होते होते अन्त में यह चित्त स्वयमेव सर्वथा शान्त हो जायगा ।

निश्वासलोपै र्निभृतैः शरीरै-
　　र्नेत्राम्बुजै रर्धनिमीलितैश्च ।
आविर्भवन्ती ममनस्कमुद्रा-
　　मालोकयामो मुनिपुङ्गवानाम् ॥२१॥

हमने मुनिश्रेष्ठों में प्रकट होनेवाली इस अमनस्कमुद्रा को अपनी आँखों देखा है कि उन्हें श्वास नहीं आता उनका शरीर निश्चेष्ट होता है उनके नेत्रकमल अधखुली अवस्था में पहुँच जाते हैं ।

जबकि श्वास का आना जाना सर्वथा बन्द हो जाय, शरीर (पत्थर के समान) निश्चेष्ट हो रहे और नेत्रकमल अर्धोन्मीलित (अधखुली) अवस्था में पहुँच जायँ (अर्थात् नेत्रों में स्वभावतः घूर्णन रहने लगे) तो समझ लेना चाहिये कि अब 'उन्मनी' अवस्था प्राप्त होगयी ।

अमी यमीन्द्राः सहजामनस्का-
　　दहंममत्वे शिथिलायमाने ।

मनोतिगं मारुतवृत्तिशून्यं,
गच्छन्ति भावं गगनावशेषम् ॥२२॥

स्वाभाविक उन्मनी से अहंता और ममता के ढीला पड़ जाने पर ये यमीन्द्र लोग, मन की पहुँच से बाहर तथा वायु की गति से रहित, गगनावशेष अवस्था को पाजाते हैं।

(अभ्यास का परिपाक होने पर) जब यह उन्मनी अवस्था स्वाभाविकरूप धारण कर लेती है तो उस अभ्यासी की (शरीरादि में) अहन्ता और (गेहादि में) ममता स्वभाव से ही ढीली पड़ जाती हैं। तब उस यमीन्द्र को ऐसा अद्भुत ब्रह्मभाव प्राप्त होता है कि (ज्ञान के साधनों में सर्वोत्तम साधन) मन भी वहाँ तक नहीं पहुँच पाता, प्राण तो बिचारा बन्द ही हो जाता है।

निवर्तयन्तीं निखिलेन्द्रियाणि,
प्रवर्तयन्तीं परमात्मयोगम्।
संविन्मयीं तां सहजामनस्कां,
कदा गमिष्यामि गतान्यभावः ॥२३॥

मैं और सब बातें भूलकर सब इन्द्रियों को रोक देनेवाली, परमात्मयोग को प्रवृत्त करनेवाली उस ज्ञानमयी स्वाभाविक अवस्था को कब प्राप्त हो सकूँगा!

जिस अवस्था के प्राप्त हो जाने पर, सकल इन्द्रियाँ अपने अपने व्यापारों को छोड़ बैठती हैं, और जबकि स्वभाव से ही परमात्मा के साथ योग हो जाता है, संसार के सम्पूर्ण फल्गु (नीरस—फोक) विषयों की भावना को (सदा के लिये) त्यागकर ऐसी उस ज्ञानरूप स्वाभाविक उन्मनी अवस्था को मैं कब प्राप्त हो सकूँगा!

प्रत्यग्विमर्शातिशयेन पुंसां,
प्राचीनगन्धेषु पलायितेषु।

प्रादुर्भवेत्काचिदजाड्यनिद्रा,
प्रपञ्चचिन्तां परिवर्जयन्ती ॥२४॥

आत्मविचार की अधिकता हो जाने पर जबकि प्राचीन गन्ध (वासनायें) भाग जाते हैं तब पुरुषों को एक ऐसी होश की नींद आती है कि वह प्रपंच की चिन्ता को छुड़ा देती है।

जब आत्मतत्व का विचार एक परिमित मात्रा को लांघकर बढ़ने लगता है अर्थात् जबकि आत्मविचार की अति होने लगती है और अब तक सधूम रहनेवाली वह आत्मज्ञानाग्नि सुलगने लगती है, तो अनादि-काल की उपचित वासनायें, पेड़ के अग्निगर्भ कोटर को छोड़कर भागते हुए पक्षियों की तरह उस ज्ञानी को छोड़कर भाग जाती हैं। तब संसार की चिन्ताओं को भुलाने वाली एक ऐसी अद्भुत नींद आती है कि वह ज्ञानी उस नींद के आने पर संज्ञाविहीन तो नहीं होजाता परन्तु उसे संसार का कुछ भान भी नहीं रहता (यों उट्टङ्कण [अटकल] मात्र से ही उस अवस्था का वर्णन शब्दों से किया जा सकता है। अन्यथा शब्दों में इतना सामर्थ्य ही कहां हैं कि उस आश्चर्य अवस्था का वर्णन वे कर सकें। इसीलिये उसको अजाड्यनिद्रा [होश की नींद] कहा जाता है। और कोई उपयुक्त साधन न होने से इन टूटे फूटे यौगिक शब्दों से ही उस अवस्था के रूप को इशारे से साधक को समझना पड़ता है)।

विच्छिन्नसङ्कल्पविकल्पमूले,
निःशेषनिर्मूलितकर्मजाले ।
निरन्तराभ्यासनितान्तभद्रा,
सा जृम्भते योगिनि योगनिद्रा ॥२५॥

संकल्प विकल्पों के मूल (संस्कारों) को भी छिन्न भिन्न कर डालने वाले, कर्मों के जाल को पूर्णरूप से उखाड़फेंकने वाले योगी में निरन्तर अभ्यास करते रहने के कारण अतीव मनोहारिणी योगनिद्रा जाग उठती है।

विश्रान्तिमासाद्य तुरीयतल्पे,
विश्वाद्यवस्थात्रितयोपरिस्थे ।
संविन्मयीं कामपि सर्वकालं,
निद्रां सखे निर्विश निर्विकल्पाम् ॥२६॥

हे मित्र ! विश्व आदि तीनों ही अवस्थाओं से ऊपर रहनेवाले तुरीय नाम के पलंग पर विश्राम लेकर, किसी ज्ञानमयी निर्विकल्प निद्रा में सदा के लिये प्रवेश करजा ।

विषय तथा विषयी आकार में अन्त:करण का परिणाम होते रहना भी कुछ कम दु:खदायक नहीं होता । यह बात अभ्यासक्रम के बढ़ने पर स्वयमेव अनुभव में आती है परन्तु जब तक विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ ये तीनों अवस्थायें बनी हैं तब तक वैसा परिणाम होना किसी से रोका नहीं जा सकता । इसलिये यदि वास्तव आनन्द की अभिलाषा है तो विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ इन तीनों अवस्थाओं से परे (बाहर) रहनेवाली तुरीयरूपी अतिविस्तीर्ण अपरिच्छिन्न कोमल शय्या पर लेटकर हे मित्र! तू तो सदा के लिये ज्ञानरूप निर्विकल्प निद्रा में प्रवेश करजा । (विश्व आदि अवस्थाओं में मिलनेवाले सुखकणों की ओर को कभी भी अपनी दृष्टि मत फेरना । यहाँ के तो सब ही सुख ऐसे हैं जैसे कि अपने ही अंगों को काटकर अपनी ही भूख मिटायी जाती हो । यहाँ के एक सुख को प्राप्त करने का मतलब ही यह होता है कि दूसरे तीन दु:खों को अपने पास रहने का निमन्त्रण दे दिया जाय । यहाँ जो भी कोई विषयसुख कमाया जाता है वह सब का सब अपने आत्मसुख को बेचकर या भुलाकर ही कमाया जाता है इसलिये कहते हैं कि इस बखेड़े को छोड़कर निर्विकल्प नींद लेने लगो) ।

प्रकाशमाने परमात्मभानौ,
नश्यत्यविद्यातिमिरे समस्ते ।

अहो बुधा निर्मलदृष्टयोपि,
किञ्चिन्न पश्यन्ति जगत्समग्रम् ॥२७॥

जब परमात्मारूपी (अनोखे) सूर्य का प्रकाश होता है और अविद्या-रूपी समस्त अन्धकार नष्ट होजाता है तो उस समय का एक आश्चर्य देखो कि फिर अत्यन्त निर्मल दृष्टि वाले भी इन विद्वानों को (मूर्खों का) यह सम्पूर्ण जगत् कुछ नहीं दीखता।

सिद्धिं तथाविधमनोविलयां समाधौ,
श्रीशैलशृङ्गकुहरेषु कदोपलप्स्ये।
गात्रं यदा मम लताः परिवेष्टयन्ति,
कर्णे यदा विरचयन्ति खगाश्च नीडान् ॥२८॥

श्रीशैल पर्वत की गुफाओं में बैठकर समाधि करने पर ऊपर बताये हुए मनोलय वाली सिद्धि को मैं कब प्राप्त होऊँगा, जबकि (शरीर का विस्मरण होजाने के कारण) मेरे शरीर को तो लतायें लपेट लेंगी और मेरे कानों में पक्षी अपने अपने घोंसले बना लेंगे।

विचरतु मतिरेषा निर्विकल्पे समाधौ।
कुचकलशयुगे वा कृष्णसारेक्षणानाम् ॥
चरतु जडमते वा सज्जनानां मते वा।
मतिकृतगुणदोषा मा विभुं न स्पृशन्ति ॥२९॥

(अब जब कि मुझे आत्मसाक्षात्कार हो गया है तो) यह मेरी बुद्धि चाहे तो निर्विकल्प समाधि में विचरे या मृगनयनियों के स्तनों में रमण किया करे, मूर्खों की बातों में फंसी रहे या सज्जनों के मत का विचार करती रहे, मुझ व्यापक कूटस्थ आत्मदेव को इस बुद्धि के कमाये हुए गुण या दोष कभी भी स्पर्श नहीं कर सकते।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ योगतारावली समाप्ता

विक्रेय पुस्तकें

	मूल्य
वाक्यसुधा—ब्राह्मी स्थिति के उपार्जन करने (समाधि लगाने की) विधि इस पुस्तक में सविस्तर वर्णित है। योगतारावली—राजयोग में कितना हठयोग उपकारक सो इससें देखने को मिलेगा।	।)
शतश्लोकी—वेदान्त के गम्भीर मर्मों को अति सरल रीति से समझना हो तो इसे पढ़ना चाहिये।	।।)
दशश्लोकी—'मैं' का मुख्य अर्थ क्या है इसकी विस्तृत आलोचना देखनी हो तो इसे देखिये।	=)
बोधसार—लययोग, हठयोग, मन्त्रयोग, शैवयोग आदि की जानकारी के साथ साथ राजयोग पर "ग्रन्थस्त्वेतादृशस्तात न भूतो न भविष्यति= ऐसा ग्रन्थ न बना और न बन सकेगा" जैसी पुस्तक देखनी हो तो इसे पढ़िये।	३)

मिलने का पता—

कृष्णकुमार शर्मा

पो० रतनगढ़ जिला बिजनौर (यू.पी.)